

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ



लेखक :
नेमीचन्द्र पाटनी

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रथम संस्करण : १ हजार
(१४ नवम्बर, २००३)

मूल्य : दस रुपए

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१. श्री नागेन्द्रकुमारजी पाटनी, आगरा	५०१.००
२. श्रीमती कलावती कंचनबाई पाटनी फै. चै. ट्रस्ट, मुम्बई	५०१.००
३. श्रीमती सोनल मुकेशकुमार सुपुत्र श्रीमती सन्तोष ध.प. डॉ. राजेश जैन, इन्दौर (देवलाली)	५०१.००
४. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
५. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
६. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
७. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
८. श्री बाबूलालजी जैन, कुचड़ौद	२०१.००
९. श्रीमती ममता जैन अजितकुमारजी जैन, भीलवाड़ा	१५१.००
१०. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गौहाटी	१०१.००
कुल राशि	२,९६०.००

मुद्रक :
प्रिण्टौलैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय-सूची

पृष्ठ	विषय
१-५	पुरुषार्थ क्या ?
५-७	ज्ञायक (तत्त्व) का निर्णय ही यथार्थ पुरुषार्थ है
७-९	तत्त्वनिर्णय का अभिप्राय
९-१७	ज्ञान की जानने की प्रक्रिया
१७-२२	ज्ञेयाकार-ज्ञानाकार कैसे ?
२२-२४	क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृत द्रव्यदृष्टि उत्पादक है
२४-२५	क्रमबद्ध की श्रद्धा ज्ञानी को होती है ?
२५-२९	भेदज्ञान
३०-३२	प्रज्ञाछैनी
३२-३८	ज्ञायक की पहिचान
३८-४१	विशेष में एकत्व से विकार होता है
४१-४८	सामान्य में अपनत्व का लाभ
४८-५०	ज्ञानपर्याय में उपादेयता से हानि
५०-५१	जाननक्रिया समझने की उपयोगिता
५१-५१	अनाकुल आनन्द की प्रगटता का उपाय
५१-६०	आत्मा का मूलस्वभाव एवं जाननक्रिया
६१-६२	अभेदपरिणमन में श्रद्धा-ज्ञान का कार्य भिन्न कैसे?
६२-६६	श्रद्धा सामान्य में अपनत्व करती है
६६-६८	ज्ञानधारा एवं कर्मधारा
६८-६९	क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से उपलब्धि
७०-७३	क्रमनियमित परिणमना स्वभाव है
७३-७७	क्रमबद्ध की श्रद्धा से ज्ञायक से एकत्व
७७-८३	भावकर्मों के अभाव का पुरुषार्थ
८३-८८	निष्कर्ष
८८-८९	सारांश

प्रकाशकीय

‘क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ’ आदरणीय श्री नेमीचन्दजी पाटनी की अन्तिम कृति है, जिसकी रचना उन्होंने रुग्णावस्था में की। इस कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

श्री पाटनीजी जैनसमाज के जाने-माने समाज सेवक थे। वे एक ओर जहाँ राष्ट्रीय स्तर की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कुशल संचालन में सिद्धहस्त थे, वहीं वे जिनवाणी का स्वयं रसपान करने और कराने की भावना से सदा ओतप्रोत रहे।

ऐसे महान व्यक्तित्व विरले ही देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में समर्पित किया है, पाटनीजी उनमें अग्रणी रहे हैं।

जिस उम्र में सारा जगत अपने उद्योग-धंधों को आगे बढ़ाने में दिन-रात एक करता देखा जाता है, उस उम्र में आदरणीय पाटनीजी पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर उस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने हेतु घर-परिवार की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर उद्योग-धंधों की परवाह न करके पूज्य श्री कानजी स्वामी के मिशन में सम्मिलित हो गए और अल्प समय में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा वहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पाटनीजी की तत्त्वज्ञान के प्रति समर्पण की भावना बढ़ती चली गई। सन् १९६४ में स्व. सेठ पूनचंदजी गोदिका द्वारा जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन की नींव रखी गई, तभी से आप पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामंत्री रहे। श्री टोडरमल स्मारक भवन का वह वट बीज, जो आज एक महान वट वृक्ष के रूप में पल्लवित हो रहा है, उसमें डॉ. भारिल्ल के अतिरिक्त पाटनीजी का ही सर्वाधिक योगदान है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पूर्व श्री पाटनीजी की और भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं; जिनमें ‘सुखी होने का उपाय’ भाग-१ से ८ तक भी हैं, जो आध्यात्मिक तलस्पर्शी ज्ञान के कोश हैं। यद्यपि हिन्दी भाषा साहित्य के सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त पुस्तकें भले ही खरी न उतरें परन्तु भावों की दृष्टि से जैनदर्शन के मर्म को समझने/ समझाने में ये पुस्तकें पूर्ण समर्थ हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन ‘क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ’ पढ़कर आप सभी का यथार्थ पुरुषार्थ प्रगट हो और अनन्त सुखी हों, इसी भावना के साथ -

- ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ

पुरुषार्थ क्या ?

पुरुषार्थ का अभिप्राय आत्मा का ज्ञायकत्व एवं अकर्तृत्व-स्वभावरूप परिणमन है; यह ही आत्मा का वास्तविक पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ का शब्दार्थ है, “पुरुष” = आत्मा और “अर्थ” = प्रयोजन अर्थात् जो आत्मा का प्रयोजन हो वही आत्मा का पुरुषार्थ है। आत्मा का प्रयोजन तो पूर्ण सुखी होना अर्थात् सिद्धदशा प्राप्त करना है। सिद्ध का आत्मा ज्ञायक अकर्तास्वभावी है और वीतरागता पूर्वक ही उसरूप परिणमन होता है। स्वभाव से ही आत्मा स्व को जानता हुआ पर को भी जानता है। उनका आत्मा ज्ञायक अकर्तास्वभावी होने से वह स्व को तो तन्मयतापूर्वक जानता है एवं पर को अतन्मयतापूर्वक मात्र जानता है। जानने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता, फलतः उनको रागादि नहीं होते वीतरागी रहते हैं। उसको प्राप्त करने का मार्ग भी तदनुसार ही होता है। इसलिये स्व में अपनत्वपूर्वक आत्मा को ज्ञायक और पर का अकर्ता मानते हुए उस रूप परिणमन करने का पुरुषार्थ ही आत्मा का यथार्थ पुरुषार्थ है। यही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है। मन-वच-काय की किसी प्रकार की क्रिया, मोक्षमार्ग का यथार्थ पुरुषार्थ नहीं है।

अज्ञानीजन पुरुषार्थ का संसारवर्धक और राग पोषक विपरीत अर्थ निकालते हैं, वे समझाते हैं कि पुरुष अर्थात् संसारी जीव को

चार प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहिए अर्थात् ये चारों पुरुषार्थ क्रमशः करने योग्य हैं यही पुरुषार्थ है, वे हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से प्रातःकाल तो धर्म क्रिया अर्थात् देवदर्शन, पूजन स्वाध्यायादि धर्म क्रिया करनी चाहिए। तदुपरान्त दिवस में अर्थोपार्जन का कार्य करना चाहिए तथा रात्रि में कामसेवन फिर मोक्ष तो वृद्धावस्था में करने योग्य कार्य है। इसप्रकार के उपदेश से भोले अज्ञानी जीवों को मिथ्यामार्ग में धकेलते हैं।

प्रश्न : उक्त चार प्रकारके पुरुषार्थों का वर्णन तो जिनवाणी में भी आता है ?

उत्तर : उक्त चारों प्रकार के पुरुषार्थों का जिनवाणी में कथन तो आता है यह सत्य है; लेकिन इसका स्वरूप जो बताया जाता है, वह अज्ञानियों की विषय लोलुपता का परिचायक है और मनगढन्त कल्पना है। उक्त कथन का ऐसा अभिप्राय नहीं है। ऐसी रागपोषक-संसारवर्द्धक व्याख्या जिनवाणी में न तो है ही और न हो ही सकती है; क्योंकि जैनधर्म तो वीतराग परिणति है और उसका मार्ग भी वीतरागता पोषक ही होता है, रागपोषक नहीं।

जिनवाणी का उक्त कथन, वास्तव में **आत्मा के वीर्य अर्थात् शक्ति के उत्थान के प्रकार बतानेवाला है**; उनकी हेय-उपादेयता बतानेवाला नहीं है। उपादेय तो मात्र एक वीतराग मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग ही है। संज्ञी आत्मा की शक्ति (वीर्य) का प्रयोग चार प्रकार के भावों में होता है - (१) धर्म अर्थात् कषाय की मंदता के भावों में (२) अर्थोपार्जन संबंधी अशुभ भावों में (३) पाँच इन्द्रियों के विषयों के सेवन के अशुभ भावों में (४) मोक्ष अर्थात् वीतराग परिणतिरूपी आत्मकल्याण के भावों में। उक्त चारों प्रकार के पुरुषार्थों में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ तो पापबंध के कारण होने से

सबप्रकार से हेय ही हैं धर्म पुरुषार्थ कषाय मंदता के भाव होने से पुण्यबंध का कारण है; किन्तु ज्ञानी को मोक्षमार्ग में निमित्त एवं सहचारी होने पर इन भावों को कथंचित् उपादेय भी कहा गया है और मोक्ष पुरुषार्थ तो वीतरागी परिणति होने से सर्वत्र एवं सर्वदा परम उपादेय है।

असंज्ञी जीव को मन नहीं होता फिर भी आत्मा के वीर्य (शक्ति) का स्फुरण-उत्थान तो होता ही है; इसलिये उसके भी चार प्रकार हैं; १. अहार २. भय ३. मैथुन यहाँ मैथुन का अर्थ काम सेवन नहीं लगाना वरन् प्राप्त इन्द्रिय के विषय सेवन की चाहना - इच्छा है। ४. परिग्रह (संग्रह करने के भाव)। इन चारों को जिनवाणी में संज्ञा के नाम से कहा है; क्योंकि ये जीवमात्र में होती हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा में चेतना है; अतः वह प्रतिसमय चेतना की जाग्रतिरूप कार्य तो करेगी ही करेगी; जब वह परिणमन करती है तो उसको शक्ति प्रदान करनेवाला आत्मा में वीर्य नाम का गुण है। उसका स्फुरण-उत्थान तो प्रतिसमय होता ही है; **असैनी को मन रहित होने पर संज्ञाओं के रूप में होता है और सैनी को मन सहित होने से ४ पुरुषार्थों के रूप में होता है।** इसप्रकार उक्त चारों पुरुषार्थ सैनी जीव के वीर्य का उत्थान का प्रकार बतानेवाले हैं; हेय-उपादेयता के लिए नहीं। उक्त पुरुषार्थों का विपरीत स्वरूप तो अज्ञानी विषयलोलुपी पुरुषों के द्वारा विकसित कर लिया गया है।

निष्कर्ष यह है कि उक्त चारों पुरुषार्थों में उपादेय तो मात्र एक मोक्ष पुरुषार्थ ही है, बाकी तीनों पुरुषार्थ तो मोक्षमार्ग के घातक होने से सदैव एवं सर्वत्र हेय ही हैं। उनमें से धर्म पुरुषार्थ अगर मोक्षमार्ग में साधक हो तो उसे भी कथंचित् उपादेय कहा है। वर्तमान

प्रकरण में मोक्ष पुरुषार्थ को अर्थात् वीतरागतारूपी भावों को ही पुरुषार्थ के नाम से संबोधित किया है; इसलिए इस पुस्तकमाला के प्रत्येक प्रकरण में पुरुषार्थ का अर्थ मात्र पुरुष अर्थात् आत्मा, उसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन – मोक्ष ऐसा समझना ।

इसप्रकार कार्य की सम्पन्नता में पाँचों समवायों की स्वतंत्रतापूर्वक समग्रता स्वीकार करते हुए, आत्मा को ज्ञायक-अकर्ता मानकर तद्रूप परिणामन कराना ही आत्मा का यथार्थ पुरुषार्थ है । यही द्वादशांग का सार है । इस संबंध में पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव के पृष्ठ २६३ पर कहा है –

“जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है, वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय होते हैं । पाँचों समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है –

१. मैं पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, इसप्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि तोड़ना सो पुरुषार्थ है ।

२. स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह दशा स्वभाव में थी सो वही प्रगट हुई है अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है ।

३. स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उससमय प्रगट होनी थी, वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है । स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है । बस, स्वभाव में से जिससमय जो दशा प्रगट हुई

वही पर्याय उसकी नियति है । पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है, वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती ।

४. स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है । पहले पर की ओर झुकता था उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ सो यही स्वकाल है ।

५. जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह निमित्त है ।

इसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से सम्बद्ध है । यदि पाँचवाँ समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इसप्रकार है – परोन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर झुकने पर प्रथम चारों अस्तिरूप में और कर्म को नास्तिरूप में; इसप्रकार आत्मा में पाँचों समवायों का परिणामन हो गया है अर्थात् निज के पुरुषार्थ से पाँचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं । प्रथम चार अस्ति से और पाँचवाँ नास्ति से अपने में है ।”

तत्त्व (ज्ञायक) का निर्णय ही यथार्थ पुरुषार्थ है

प्रश्न : उक्त पुरुषार्थ कैसे हो ?

इस विषय की स्पष्टता के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक के “पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्ति” नामक प्रकरण पृष्ठ ३०९ से ३१३ तक अवश्य पढ़ना चाहिए । उसके पृष्ठ ३१२ पर कहा है कि –

“तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय (ज्ञायक-अकर्तास्वभावी आत्मस्वरूप का निर्णय) करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने-आप दर्शनमोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आवेगी, सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है। इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है, उसमें जीव का कुछ कर्तव्य नहीं है।”

इतना समझाने के पश्चात् भी, जो जीव उपर्युक्त निर्णय करने में कर्म के उदय अथवा अन्य समवाय का बहाना लेकर उपयोग नहीं लगाता, उसका पुरुषार्थ जागृत करने के लिए पृष्ठ ३११ पर कहते हैं कि -

“और तत्त्व निर्णय करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषय कषायरूप ही रहना है; इसलिए झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिए बनाए ? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा, इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखा-देखी उत्कृष्ट कहता है। उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बनें सो न करे यह असंभव है।”

उपरोक्त कथन सुनकर भी जो जीव तत्त्व निर्णय हेतु पुरुषार्थ नहीं लगाते और अन्यत्र उपयोग लगाते हैं, उनके लिए पृष्ठ ३१२ पर कहा है कि :-

“इसलिए जो विचार शक्ति सहित हो और जिसके रागादिक मंद हों - वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाए तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्व निर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गंवाये- या तो मंद रागादि सहित विषय-कषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहार धर्म कार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।”

उक्त तत्त्व-निर्णय की महिमा बताते हुए पृष्ठ २६० पर कहते हैं कि :-

“देखो ! तत्त्व-विचार की महिमा। तत्त्व-विचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अध्ययन करे, वृतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्व विचार वाला (आत्मस्वरूप का निर्णय करने वाला) इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।”

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि इस जीव को मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए, तत्त्वनिर्णय अर्थात् ‘मैं ज्ञायक हूँ’ ऐसा निर्णय करने का अभ्यास ही कार्यकारी है; अतः पात्र जीव को अन्य विकल्पों को छोड़कर, तत्त्वनिर्णय का अभ्यास करना चाहिए। इस ही से मोक्षमार्ग की प्रगटता संभव है।

तत्त्वनिर्णय का अभिप्राय

तत्त्व से अभिप्राय “अकर्ता ज्ञायक स्वभावी आत्मा है” - ऐसा निर्णय करना ही तत्त्वनिर्णय है।

नव तत्त्वों में, एक तत्त्व, जीव स्वयं भी तो है। सभी तत्त्वों में सारभूत और प्रयोजनभूत तत्त्व तो एक जीवतत्त्व ही है;

अतः उसका स्वरूप एवं स्वभाव समझना ही तत्त्व निर्णय है; इसलिए अपने जीवतत्त्व का स्वरूप अपनत्व करने के लिए समझकर, बाकी रहे तत्त्वों का स्वरूप भी समझना है, वह भी इसलिए कि वे जीव नहीं हैं, वे मैं नहीं हूँ और न वे मेरे हैं। जीव तो ज्ञायक-अकर्तास्वभावी ऐसा मैं हूँ? ये नव तत्त्व मेरे आत्मा से संबंधित ही हैं; इसलिए आत्मा के हित की मुख्यता से इनको समझने के लिए जिनवाणी में तत्त्वों को 'हेय-ज्ञेय-उपादेय' तीन समूहों में बांटा है। जैसे जीव और अजीव तो दोनों ज्ञेयतत्त्व हैं। आस्रव और बन्ध हेयतत्त्व हैं, पुण्य और पाप भी इन्हीं में गर्भित हैं; ये सब आत्मा की पर्याय होते हुए भी अभाव करने योग्य होने से हेयतत्त्व हैं। तथा संवर और निर्जरा भी दोनों आत्मा की पर्यायें हैं; लेकिन वे प्रगट करने योग्य होने से उपादेय हैं। मोक्ष तत्त्व भी आत्मा की पर्याय है; लेकिन प्रगट करने के लिए परम उपादेय हैं; किन्तु सभी पर्यायें अनित्य स्वभावी होने से अहम् करने योग्य अर्थात् अपना स्वरूप मानने योग्य नहीं हैं।

अहम् करने योग्य अर्थात् अपना स्वरूप मानने योग्य तो पर्यायों से भी भिन्न, एकमात्र नित्य स्वभावी अकर्ता-ज्ञायक ध्रुव आत्मतत्त्व ही है। मेरा ध्येय सिद्ध दशा प्रगट करना है। सिद्धभगवान ने भी ज्ञायक अकर्ता स्वभावी आत्मतत्त्व का आश्रय अर्थात् उसमें अपनापन किया, उससे उनकी पर्याय भी पवित्र हो गई; इसलिए मेरा जीव तत्त्व तो ज्ञेय भी है और श्रद्धेय भी है। उसका आश्रय करने से मेरा आत्मा भी पवित्रता को प्राप्त हो सकेगा।

अजीव तत्त्व न तो हेय हैं और न उपादेय; वे तो मात्र ज्ञेय हैं। उनका अस्तित्व है और मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं; इसलिए वे मात्र पररूप जान लेने योग्य हैं। उनसे किंचित् भी किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाया तो वे आस्रव-बंध के उत्पादक बन जावेंगे; इसलिए

निरपेक्ष रहकर उनको जान लेने योग्य हैं और ज्ञायक में अपनत्वपूर्वक लीन होने से संवर-निर्जरा उत्पन्न होती है।

इसप्रकार सातों अथवा नवतत्त्वों में अकर्ता ज्ञायकस्वभावी आत्मा ही "मैं" हूँ; ऐसा समझकर यही निर्णय करना है। तत्त्व-निर्णयरूप अभ्यास का यही अभिप्राय है।

समयसार गाथा १५५ की टीका में भी इस विषय का समर्थन है:-

टीका : "मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसमें सम्यग्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का (आत्मा का) होना परिणमन करना है, जीवादि पदार्थों के ज्ञान स्वभावरूप ज्ञान (आत्मा) का होना-परिणमन करना ज्ञान है, रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना-परिणमन करना सो चारित्र है; अतः इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञान (आत्मा) का ही भवन-परिणमन है; इसलिए ज्ञान (ज्ञायक) ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।"

इस प्रकार सभी तत्त्वों में सारभूत तो अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावी आत्मा को 'अहं रूप' जानना, मानना और पहिचानना है। अन्य सबका उसमें अभाव है; इसलिए वे सब पर हैं। ऐसी श्रद्धा ही यथार्थ तत्त्व-निर्णय है, यही तत्त्वनिर्णय का अभिप्राय है और यह निर्णय करना ही प्रथम पुरुषार्थ है।

ज्ञान की जानने की प्रक्रिया

चेतना अर्थात् जानना आत्मा का लक्षण है। लक्षण वही है, जो अपने विषय में ही मिले और उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो।

इस प्रकार ज्ञान अर्थात् जानना आत्मा का ऐसा स्वभाव है जो आत्मा में ही मिलता है और अन्य द्रव्यों में नहीं मिलता तथा आत्मा निगोद में चला जावे अथवा सिद्धदशा प्राप्त करले उसका कहीं भी अभाव नहीं होता; इसलिये **चेतना अर्थात् जानना आत्मा का मूल स्वभाव है, प्रधान भाव, परम भाव है।** समयसार गाथा-२ की टीका में समय अर्थात् आत्मा का स्वरूप बताते हुये कहा है कि “यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है; इसलिये वह समय है।” जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ परिणमते तो हैं; किन्तु जानते नहीं हैं; जाननेवाला तो आत्मा ही है; इसलिये यह मूल स्वभाव प्रधान स्वभाव है। पूज्य श्रीकानजीस्वामी ने ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव के पृष्ठ ८ पर कहा है कि “**ज्ञायकपना आत्मा का परमभाव है, आत्मा का ज्ञान स्वभाव है वह अनादि-अनन्त जानने का ही कार्य करता है।**” इसप्रकार आत्मा का ज्ञान स्वभाव सबसे महत्त्वपूर्ण और मुख्य स्वभाव है। इसका प्रयोजनभूतपना इससे भी सिद्ध होता है कि मृत्युकाल में **आत्मा के शरीर में से निकलने पर ज्ञान क्रिया भी आत्मा के साथ चली जाती है** और उसके अभाव में शरीर को, जिसकी जीवन भर सेवा की है वह भी जलाकर मिट्टी में मिला दिया जाता है; इसलिये आत्मा के जानने की प्रक्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आत्मा की शांति के लिये अत्यन्त प्रयोजनभूत है; इसलिये उसको समझकर निर्णय करने योग्य है; क्योंकि **जानने क्रिया की विपरीतता ही पर के साथ संयोग का कारण बन जाती है और यथार्थता वीतरागता का कारण हो जाती है।** प्रवचनसार गाथा १५५ की टीका में भी कहा है कि “वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष हैं।”

इसलिये ज्ञायक के लक्ष्य पूर्वक उस पर गंभीरता से और मनोयोग से विचार कर निर्णय करना चाहिये।

यहाँ ज्ञान का अभिप्राय मात्र ज्ञान गुण का कार्य नहीं है; अपितु समग्र चेतना का कार्य है, चेतना में दर्शन एवं ज्ञान दोनों का समावेश रहता है। दर्शन का विषय अभेद सामान्य होता है और ज्ञान का विषय भेद-विशेष होते हैं। दोनों मिलकर सामान्य-विशेषात्मक चेतना का कार्य वह चेतना का परिणाम है। इस प्रकार **समग्र चेतना के कार्य को यहाँ ज्ञान के नाम से कहा है।**

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। पर का अस्तित्व उसी के द्वारा सिद्ध होता है; यह सामर्थ्य ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा के अनन्त गुणों में से किसी गुण में नहीं है। स्व और पर का ज्ञान युगपत् होता है; जैसे मुझे क्रोध आया, ऐसा बोलने में ही अव्यक्त रूप से क्रोध के साथ ही स्व का भी ज्ञान आ जाता है। समयसार परिशिष्ट के पृष्ठ ६६९ पर भी कहा है कि “इसलिये उसके ज्ञानमात्र एकभाव भी अन्तःपातनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जाने वाली) वे अनन्तशक्तियाँ उछलती हैं।” इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी सबको पर के साथ स्व का ज्ञान भी अव्यक्त रूप से वर्तता रहता है।

आत्मा की जानन क्रिया का कार्यक्षेत्र भी आत्मा के स्वयं के प्रदेश ही रहते हैं अर्थात् उसकी जानन क्रिया असंख्यात प्रदेशों में ही होती हैं; ज्ञान आत्मा का गुण है, उसका गुणी अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य है। आत्मद्रव्य का परिणमन अपने प्रदेशों में ही होता है, उनमें ज्ञान भी सम्मिलित रहता है। इसप्रकार जानन क्रिया का स्व एवं पर को जानने का कार्य **आत्मा के असंख्यप्रदेशों में रहते हुए होता है।** इससे सिद्ध है कि परज्ञेयों को जानने के लिये ज्ञान को अपने प्रदेशों को छोड़कर ज्ञेय

के क्षेत्र में अर्थात् प्रदेशों में नहीं जाना पड़ता; क्योंकि **प्रत्येक द्रव्य में प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण है**। प्रमेयत्व गुण भी अपने क्षेत्र में रहते हुए भी जो भी जाने, उसके ज्ञेय बन सकते हैं; ऐसी ज्ञेय पदार्थों में भी सामर्थ्य है।

इस प्रकार ज्ञान अपने आत्मा में रहते हुए ही अपनी जानने की सामर्थ्य द्वारा, दूरवर्ती अथवा समीपवर्ती परज्ञेयों को भी अपनी ज्ञानपर्याय में जान लेता है; ऐसा ज्ञान का एवं ज्ञेयों का सहजस्वभाव है, दोनों में से किसी को भी कोई श्रम नहीं करना पड़ता। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। अन्य प्रकार से भी विचार करें तो अमूर्तिक आत्मा की जानने की क्रिया तो अपने प्रदेशों में होती है और ज्ञेय तो चेतन-अचेतन तथा मूर्तिक-अमूर्तिक सभी होते हैं; इसलिये अगर ज्ञेयों में जाकर ज्ञान को जानना पड़े तो मूर्तिक को जानने के लिये आत्मा को मूर्तिक एवं अचेतन को जानने के लिये अचेतन होना पड़ेगा; लेकिन ऐसा तो असम्भव है; अतः सभी प्रकार से निश्चित है कि **ज्ञान की जानने की प्रक्रिया अपने क्षेत्रों में रहते हुए ही अपनी योग्यता से अपने में होती है**, अर्थात् परज्ञेयों का ज्ञान भी अपनी ज्ञानपर्याय में ही, पर से निरपेक्ष रहते हुए होता है, ज्ञेयों में पहुँचकर अथवा उनके पास जाकर भी नहीं होता; क्योंकि जानने की सामर्थ्य तो ज्ञान में ही है।

प्रश्न – जानने की क्रिया ज्ञेय से निरपेक्ष रहते हुए कैसे हो जावेगी?

उत्तर – यहाँ निरपेक्ष कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जानने की क्रिया का उपादान तो ज्ञान ही है, वह ज्ञान की ही पर्याय है, उसमें उपादान सामग्री तो अकेले ज्ञान की ही है; ज्ञेय का उसमें अंशमात्र भी नहीं है। जानने की क्रिया में ज्ञेय का कोई प्रकार का

योगदान-सहायता अथवा सहयोग भी नहीं होता, फिर भी निमित्तपने का योगदान अवश्य होता है। अर्थात् जाननक्रिया ने किसको जाना? इसका ज्ञान कराने का योगदान अर्थात् निमित्त तो ज्ञेय का अवश्य होता है। ऐसे जानने के सम्बन्ध को ही जिनवाणी में ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध के नाम से कहा जाता है। ऐसा सम्बन्ध ज्ञान का ज्ञेय के साथ अविनाभावी है, वह तो निगोद से लगाकर सिद्ध तक के सब जीवों को अनिवार्य रूप से रहता है। इसी को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी कहा जाता है। नैमित्तिक ऐसी जानने की क्रिया जो आत्मा में ही होती है, उसका कर्ता तो ज्ञान अर्थात् आत्मा ही है, निमित्त अर्थात् ज्ञेय नहीं। फिर भी उस समय ज्ञान का ज्ञेय कौन था, निमित्त के बिना उसका परिचय कराया जाना संभव नहीं होता। और निमित्त-नैमित्तिक दोनों की पर्यायों का उत्पाद काल एक ही होता है, उनका अपने-अपने में अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणामन होते हुए भी समकाल प्रत्यासत्ति होने से दोनों का सम्बन्ध अविनाभावी बन जाता है। इसप्रकार ज्ञान की पर्याय का आकार उससमय किस ज्ञेय के आकार होकर परिणाम रहा है इसका निर्णय सुगमता से हो जाता है। ऐसा सम्बन्ध तो ज्ञानी-अज्ञानी सिद्ध एवं संसारी सबको होता रहता है; क्योंकि **ज्ञान किसी भी समय स्व एवं पर किसी को नहीं जाने ऐसा तो हो ही नहीं सकता।**

प्रश्न – ज्ञान को ज्ञेयाकार कहने से ज्ञेय की अपेक्षा तो आती है, उसे निरपेक्ष कैसे कह सकते हैं?

उत्तर – निरपेक्ष कहने का अभिप्राय तो जानने की क्रिया में ज्ञेय का किसी प्रकार का योगदान होने का निषेध बताना था, निमित्तपने के सम्बन्ध का भी निषेध करना नहीं था। नैमित्तिक परिणामन में निमित्त का किसी प्रकार का योगदान नहीं होते हुए भी,

कार्य के अनुकूल परिणमन होना तो उसका योगदान अर्थात् निमित्तपना है ही। ज्ञान पर्याय का, ज्ञेय के जानने की प्रक्रिया में इतना ही सम्बन्ध होता है। उसी को ज्ञेयाकार कहकर समझाने की पद्धति जिनवाणी में है। ज्ञेय के कारण ज्ञान में ज्ञेयाकार बन जाता हो - ऐसा उसका अभिप्राय नहीं है; वास्तव में तो वह ज्ञान का ही परिणमन है अर्थात् ज्ञानाकार ही है। **ज्ञान के जानने की प्रक्रिया तो अखण्ड धारावाहिक परिणमन में, उसकी स्वयं की योग्यता से अपने नियत स्वकाल में नियत ज्ञेय को जानने रूप परिणामी है, उसमें ज्ञेय का किञ्चित् मात्र भी योगदान नहीं होता।** लेकिन उस ज्ञानाकार को ज्ञेयाकार कहकर परिचय कराये बिना स्व और पर का भेद भी करना संभव नहीं होता। उसके अभाव में स्व-पर का भेदज्ञान करना भी शक्य नहीं होता; इसलिये तत्संबंधी ज्ञान पर्याय को ज्ञेयाकार पर्याय कहकर समझाना अशक्यानुष्ठान होने से जिनवाणी में प्रयोग किया गया है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक ही होती है, सामान्य वह अंशी है और विशेष उसका अंश है। सामान्य विशेष के बिना नहीं रहता और सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता; इसलिये ज्ञान सामान्य है और जाननक्रिया रूप पर्याय उसका विशेष है। जिसप्रकार ज्ञानपर्याय, ज्ञान सामान्य का विशेष है; उसी प्रकार ज्ञेय रूपी पदार्थ वह सामान्य है और उसका परिणमन वह उसका विशेष है। प्रत्येक द्रव्य के विशेष में उस द्रव्य का सामान्य ही अन्वय रूप से धारावाहिक बहता है, अन्य द्रव्य का सामान्य उसमें नहीं परिणमन सकता; क्योंकि एक में दूसरे का अत्यन्ताभाव वर्तता है। इसीप्रकार ज्ञेयाकार ज्ञान के परिणमन में भी, ज्ञान ही अन्वय रूप से धारावाहिक बहता हुआ वर्तता रहता है, ज्ञेय का अंश भी नहीं रहता, **ज्ञान को**

तो ज्ञेय के सन्मुख होकर भी उसको नहीं जानना पड़ता वरन् ज्ञान अपनी पर्याय की योग्यता को ही जानता है जो ज्ञेय के आकार है।

प्रश्न - यह भी तो कहा जाता है कि आत्मा पर ज्ञेयों को नहीं जानता? उक्त कथन से भी ऐसा ही भ्रम होता है?

उत्तर - स्व-पर प्रकाशक तो ज्ञान का स्वभाव है। वस्तु का स्वभाव तो अनादि अनन्त अपरिवर्तित रहता है, वह तो कभी, कहीं भी बदल नहीं सकता। जब केवली भगवान् स्व एवं पर सबको जानते हैं, तो कोई आत्मा पर को नहीं जानता हो, ऐसा तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि स्व-पर को जानना तो ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञान आत्मा का निश्चय स्वभाव है व्यवहारस्वभाव नहीं है; इसलिये वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा कथन जिनवाणी से मैल नहीं खाता। **आत्मा का पर को जानना भी निश्चय स्वभाव है, व्यवहार नहीं।** लेकिन उपरोक्त वस्तु स्वभाव को निःशंकतापूर्वक स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी अपना मोक्षमार्गरूपी प्रयोजन सिद्ध करने के लिये नयज्ञान के द्वारा उपादान की मुख्यता से भेदज्ञान की सिद्धि के लिये अगर ऐसा कहा भी जावे तो भी वह वस्तु का स्वरूप नहीं माना जा सकता वरन् मात्र प्रयोजन सिद्धि के लिये किया गया अपेक्षित कथन है - ऐसा मानना चाहये; इसलिये आत्मार्थी की श्रद्धा और ज्ञान में वस्तु का स्वभाव निरंतर जाग्रत रहना चाहिये।

प्रश्न - उक्त कथनों से पर्याय की क्रमबद्धता एवं पुरुषार्थ कैसे सिद्ध होता है ?

उत्तर - क्रमबद्ध परिणमन होना तो वस्तु का वस्तुमत स्वभाव है, यथा - “सत्द्रव्यलक्षणम्” एवं “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्” अर्थात् वस्तु ध्रुव रहते हुए उत्पाद-व्यय (पर्याय) करती हुई अपनी

सत्ता बनाये रखती है। तात्पर्य यह है कि अनुस्यूति से रचित अनादिअनन्तकाल प्रवाह में वस्तु क्रमबद्ध परिणमती रहती है, उसी को क्रमबद्धपरिणमन अर्थात् पर्याय कहते हैं। यह तो वस्तु का वस्तुगत स्वभाव है, इसको तो सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय अनवरतरूप से अपनी-अपनी पर्यायों (परिणमनों) को करता ही रहता है यही पर्याय की क्रमबद्धता है - ऐसा प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।

जब सभी द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी पर्यायों को क्रमबद्ध करते ही रहते हैं, तो किसी द्रव्य के परिणमन में कोई अन्य द्रव्य कुछ भी हस्तक्षेप कर ही नहीं सकता; क्योंकि वह स्वयं अपने परिणमन करने में संलग्न रहता है। फलस्वरूप आत्मद्रव्य का अन्य किसी द्रव्य के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध बन ही नहीं सकता; यह भी वस्तुस्वरूप है।

इसप्रकार सहज ही स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि आत्मा अपने परिणमन का ही कर्ता है, अन्य द्रव्य का कर्ता हो ही नहीं सकता; विपरीत मान्यता से अपने को पर का कर्ता माने, तो भी कर्ता नहीं हो सकता। ज्ञानरूप जो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा तो मात्र उसी का कर्ता है अर्थात् ज्ञानरूपी परिणमन को क्रमबद्ध करते रहना ही आत्मा का स्वभाव है। उक्तप्रकार की मान्यता ही वीतरागता की उत्पादक होने से यही आत्मा का वास्तविक अर्थात् यथार्थ पुरुषार्थ है।

इसप्रकार पर्याय की क्रमबद्धता स्वीकार करना अर्थात् श्रद्धा करना ही आत्मा का यथार्थ पुरुषार्थ है। समयसार की गाथा ३०८-३०९ की टीका में भी कहा है -

“प्रथम तो जीव (क्रमनियमित) क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से

उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध (क्रमनियमित) अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकड़ आदि परिणामों में से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है; उसीप्रकार सर्वद्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है; तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सर्वद्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध नहीं होने पर, अजीव के जीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया स्वद्रव्य से ही) सिद्धि होने से जीव से अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता; इसलिए जीव अकर्ता सिद्ध होता है।”

इसप्रकार उक्त कथन से भी पर्याय अर्थात् परिणमन की क्रमबद्धता वस्तु का स्वरूप सिद्ध होता है एवं उक्त श्रद्धा के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्वस्वभाव भी सिद्ध होता है।

ज्ञेयाकार ज्ञानाकार कैसे ?

प्रश्न - ज्ञान को ज्ञेयाकार अथवा ज्ञानाकार कहने में अन्तर क्या है ?

उत्तर - जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञान के ज्ञेयाकार परिणमन की और ज्ञेयपदार्थ के तदनुकूल परिणमन की समकाल प्रत्यासत्ति है। ज्ञेय का परिणमन, ज्ञेयाकार परिणमन में निमित्त कारण है और ज्ञानपर्याय नैमित्तिक कार्य हैं; उसी पर्याय का उत्पादक कारण बताना हो तो ज्ञान अर्थात् आत्मा उपादान कारण है और ज्ञान

ही उस आकार होने से वही ज्ञानाकार है; इसलिये वही उस उपादान कारण का उपादेय रूपी कार्य है। यहाँ उपादेय का अर्थ ग्रहण करने योग्य नहीं समझना, यहाँ तो उपादान का कार्य होने से उसे उपादेय कहा है। उक्त स्थिति से स्पष्ट है कि ज्ञान का कार्य तो एक ही हुआ है; लेकिन उसके कर्ता अर्थात् कारण दो बन जाते हैं; इसलिये कार्य को देखने की दृष्टि भी दो हो जाती हैं। उसी कार्य को निमित्ताधीन दृष्टि से अर्थात् निमित्त को मुख्य करके देखा जावे तो वह कार्य, निमित्त जैसा ही अर्थात् ज्ञेय ही दिखने लगता है और उसी कार्य को उपादान की दृष्टि से अर्थात् उपादान को मुख्य करके देखा जावे तो वह ज्ञान का ही परिणमन अर्थात् ज्ञानाकार दिखने लगता है। इस कार्य की सम्पन्नता में उपादानरूपी द्रव्य के परिणमन एवं निमित्त रूपी द्रव्य के परिणमन, दोनों अपने-अपने में अपने-अपने नियतक्षण में अपनी योग्यतानुसार परिणमते रहते हैं, उनमें कोई व्यवधान नहीं पड़ता और विषय परिवर्तन होने पर भी ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी अक्षुण्ण बना रहता है तथा पर का जानना भी अनिवार्य रूप से बना रहता है। अन्तर पड़ता है तो ज्ञान के कार्य को देखने की दृष्टि में पड़ता है। उपादान की दृष्टि में ज्ञानाकार ही हैं, ज्ञेयाकार नहीं और निमित्ताधीन दृष्टि में ज्ञेयाकार ही हैं, ज्ञानाकार नहीं। उपादान दृष्टि में ज्ञेय तिरोभूत हो जाते हैं (गौण रह जाते हैं) अभाव नहीं हो जाता और निमित्ताधीन दृष्टि से देखने वाले को, ज्ञान परिणमन का स्वामी ऐसा ज्ञायक साथ रहते हुए भी (ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से) अज्ञानी की दृष्टि में वह तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानी की दृष्टि सम्यक् हो जाने से उसको निमित्ताधीन दृष्टि नहीं होती; अपितु पर के साथ स्व का ज्ञान वर्तता रहता है, फलतः उसका एकत्व निमित्त में नहीं हो पाता; अज्ञानी निमित्त अर्थात् ज्ञेयपदार्थ में एकत्व (अपनापन) कर लेता है, इसलिये जिनवाणी में निमित्ताधीन दृष्टि को मिथ्यादृष्टि

कहा है और उपादान दृष्टि को सम्यग्दृष्टि कहा है। इसप्रकार उपादानदृष्टि की मुख्यता से ऐसा कहा जावे कि ज्ञानी पर को नहीं जानता तो भी उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि ज्ञानी को पर को जानने का अभाव हो जाता है; क्योंकि ज्ञानी भी तत्समय वर्तनेवाली अपनी पर्याय में वर्तनेवाली अशुद्धि को निश्चय से जानता है; परन्तु अज्ञानी तो पर को ही जानता है और पर को अपने रूप से जानता है। इसलिये उसको जानने में तो पर ही मुख्य रहता है; स्व का तो उसे परिचय ही नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जिनवाणी में पर ज्ञेय पदार्थों को जानने का निषेध नहीं है; अपितु एकत्वबुद्धि पूर्वक अर्थात् अपनेपनेपूर्वक परज्ञेयों को जानने का निषेध है; क्योंकि एकत्वबुद्धिपूर्वक जानना ही अध्यवसान है और वही मिथ्यात्व है। इसके विपरीत ज्ञानी का परत्वबुद्धिपूर्वक जानना होता है, वह अध्यवसान रहित मात्र जानना होता है - ऐसा जानना वीतरागता को घात करने वाला नहीं होता। इसलिये उसका निषेध नहीं है। समयसार गाथा २६९ एवं उसकी टीका मूलतः पठनीय है।

गाथार्थ :- “जीव अध्यवसान से तिर्यच, नारक, देव और मनुष्य इन सर्व पर्यायों तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप भाव से (ज्ञान में आते हुए) इन स्वरूप अपने को करता है और उसीप्रकार जीव अध्यवसान से धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक (जो मात्र ज्ञान में ज्ञात होते हैं) इन सब रूप अपने को करता है।”

उक्त गाथा से स्पष्ट है कि जानने मात्र से बंध नहीं है वरन् एकत्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् अध्यवसानपूर्वक जानने से बंध होता है। उक्त गाथा बंध अधिकार की है। इसके अतिरिक्त जीवाधिकार की गाथा १५ की टीका से भी उक्त आशय की पुष्टि होती है। वह निम्न प्रकार है -

“इसप्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (विशेष भाव रूप, भेद रूप, अनेकाकार रूप) ज्ञान, अज्ञानी व ज्ञेय लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है; किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जावे तो जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। (लवण का दृष्टान्त) उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूपता से स्वाद में आता है।”

उक्त कथनों का तात्पर्य यह है कि उपादानदृष्टि मोक्षमार्ग की उत्पादक है एवं निमित्ताधीन दृष्टि संसारमार्ग का सर्जन करने वाली है। उपादान अर्थात् ज्ञायक की दृष्टिपूर्वक ज्ञानाकार को जानने वाले की दृष्टि में ज्ञानपर्याय एवं ज्ञानगुण भी तिरोभूत होकर ज्ञायक की दृष्टि हो जाती है और उसी में उसका एकत्व हो जाता है। और निमित्ताधीन दृष्टिपूर्वक ज्ञेयाकार को जाननेवाले की दृष्टि में ज्ञानपर्याय भी तिरोभूत होकर ज्ञेयपदार्थ की दृष्टि हो जाती है और वह उसी में एकत्व कर लेता है। ज्ञानी का ज्ञायक में अपनत्व होता है; इसलिये उसका ज्ञान उसी की ओर झुकता हुआ उत्पन्न होता है; इसलिये उसको अनन्तानुबंधी के अभावात्मक ज्ञायक में स्वरूपाचरण संबंधी तन्मयता वर्तते हुये भी स्वरूप में स्थिरता की कमी के कारण, ज्ञेयाकार का उल्लंघन करते हुए भी सीधा ज्ञेय पदार्थों में आसक्त हो जाता है; किन्तु अपनत्व

रहित रहता है। फलतः मिथ्यात्व का उत्पादन नहीं होता। इसका श्रेय भी अकेले ज्ञायक में अपनत्व को ही है, ज्ञेयपदार्थ अथवा ज्ञेयाकार ज्ञान के निर्णय को नहीं है। ज्ञायक में अपनत्वपूर्वक जानना एकत्व नहीं होने देता।

अरहंत भगवान् का ज्ञायक में अपनापन होकर उसमें स्थिरता पूर्ण हो चुकी; अतः उनका ज्ञान भी पूर्ण होकर, ज्ञायक को पूर्ण तन्मयतापूर्वक जानता है और परज्ञेयमात्र को (लोकालोक को) सर्वथा तन्मयता रहित जानता है (देखो परमात्मप्रकाश गाथा ५ एवं ५२ की टीका) तदनुसार ही ज्ञानी भी ज्ञायक में अपनत्व होकर स्वरूपाचरण अनुसार आंशिक तन्मयतापूर्वक स्व को जानता है तदनुसार वीतरागतारूपी शुद्धि का उत्पादन करता है एवं परज्ञेयों को अपनत्व रहित तथा तीन कषाय के सद्भावात्मक अचारित्रता-पूर्वक आंशिकतन्मयतापूर्वक पर को भी जानता है तदनुसार रागादिरूप अशुद्धि का भी उत्पादन करता है। इसीप्रकार तारतम्यतानुसार अन्य गुणस्थानों में भी समझ लेना। वेदन तो तन्मयता के अनुसार होता है; किन्तु स्व-पर के जानने का अभाव कहीं नहीं होता। पू. श्रीकानजीस्वामी के ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव के पृष्ठ २१ पर कहा है कि “भगवान् एक समय में (स्व एवं पर को) परिपूर्ण जानते हैं और यह जीव (स्व एवं पर को) अल्प जानता है, इतना ही अन्तर है। अल्प और अधिक ऐसे भेद को गौण कर डालें तो सर्वजीवों में ज्ञान का एक ही प्रकार है।”

तात्पर्य यह है कि स्व-पर को जानना तो ज्ञान का स्वभाव है उसका तो अभाव हो नहीं सकता; लेकिन पर को

अपनत्वपूर्वक जानना, संसारमार्ग है, अध्यवसान है; इसलिये उसका निषेध है।

क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति द्रव्यदृष्टि उत्पादक है।

प्रश्न – पर्याय तो ज्ञेयाकार अथवा ज्ञानाकार कुछ भी हो किन्तु उसकी श्रद्धा भी तो अध्यवसान उत्पादक है?

उत्तर – पर्याय को जानने समझने से अध्यवसान नहीं होता वरन् पर्याय में अपनत्व करने से अध्यवसान होता है। इसलिये अपनापन तो अर्थात् अपना अस्तित्व तो त्रिकाल ध्रुव रहनेवाला ज्ञायक ही मानना चाहिये उसी की श्रद्धा करनी चाहिये। पर्याय तो अनित्यस्वभावी है, उसमें अपनत्व तो संसारवर्धक ही है; किन्तु जानने रूप कार्य तो पर्याय में होता है; इसलिये उसकी जानने की प्रक्रिया को जानकर, समझकर उसके माध्यम से वीतरागता उत्पादक मार्ग को भी पहिचानकर ग्रहण कर लेना तो अत्यन्त प्रयोजनभूत है; ऐसा करने से अध्यवसान नहीं होता।

प्रश्न – उसके जानने से वीतरागता का उत्पादन कैसे होगा?

उत्तर – वीतरागता का उत्पादन तो ज्ञायक में अपनत्व सहित लीनतापूर्वक जो परिणमन होता है, उस ही से होता है। लेकिन अज्ञानी को अनादि से परपदार्थों अर्थात् परज्ञेयों में अपनापन वर्तता आ रहा है। फलस्वरूप ज्ञान भी उस ओर ही आकर्षित रहता है – झुका रहता है। इसलिये ज्ञान को उस ओर से व्यावृत्त्य करके ज्ञान की ओर आकर्षित करने के लिये, ज्ञान के जानने की प्रक्रिया समझना उपयोगी होता है; क्योंकि वह वस्तु का स्वरूप है। स्व की ओर आकर्षण का मूल आधार तो होता है

ज्ञायक में अपनत्व; वह होने पर वही ज्ञान सहज ही स्व की ओर झुक जाता है। उस ज्ञान द्वारा उपादान दृष्टिपूर्वक ज्ञानक्रिया को देखने से ज्ञेय पदार्थ एवं ज्ञेयाकार स्वतः ही गौण रह जाते हैं और वे ज्ञान को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहते हैं; क्योंकि उसकी श्रद्धा और ज्ञान में जानने की प्रक्रिया जाग्रत रहती है उससे मानता है कि ज्ञेय पदार्थों से तो मेरे ज्ञान का भी संबंध नहीं है, वे तो अपनी योग्यता से अपने आप में नियत क्षण में उत्पन्न होते और व्यय को प्राप्त होते रहते हैं। मैं तो अपनी ज्ञान पर्याय को ही जानता हूँ, ज्ञेय पदार्थों को नहीं; मेरे ज्ञान से निरपेक्ष रहते हुए, उनका परिणमन मेरे जानने में निमित्त हो जाता है; इसलिये मेरा तो ज्ञेय पदार्थों से सम्बन्ध नहीं बनता है; समयसार कलश २०० में कहा है -

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्य आत्मतत्त्वयोः।

कर्तृकर्मत्व सम्बन्धाभावे तत्कृतृताकुतः॥२००॥

अर्थ – परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व को सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है॥२००॥

उक्त श्रद्धा के बल से ज्ञेयों से एकत्व नहीं हो पाता, भिन्नत्व बना रहता है, भेदज्ञान वर्तता रहता है। ज्ञानी की श्रद्धा होती है कि ज्ञान आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है; इसलिये उसका स्वभाववान् ऐसे ज्ञायक से तादात्म्य वर्तता है; इसलिये ज्ञायक में अपनत्व की श्रद्धा के बल से ज्ञानपर्याय भी गौण रहकर दृष्टि सीधी ज्ञायक में एकत्व कर लेती है। इस प्रकार ज्ञानी की श्रद्धा में ज्ञान के जानने की प्रक्रिया जाग्रत रहने से, भेदज्ञान सहजरूप से वर्तता रहता है। अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है ज्ञायक में अपनत्व

उत्पन्न करने के लिये ज्ञायक का स्वरूप समझकर, महिमा लाकर उसी में तीव्र आकर्षणों अर्थात् रुचि उत्पन्न करना, तत्पश्चात् ज्ञानी को सहज वर्तने वाली दशा प्रगट करने का अभ्यास करना चाहिये। **ज्ञान के जानने की स्वाभाविक प्रक्रिया समझ कर, ज्ञेयमात्र से निरपेक्षवृत्ति उत्पन्न करना; और ज्ञायक में अपनत्व की रुचि बढ़ाना, यही उपकार है, ज्ञान के जानने की प्रक्रिया को समझने का।** इसके विपरीत, ज्ञेय पदार्थ की ओर से उपयोग को हटाकर, ज्ञेयाकार अथवा ज्ञानाकार पर्याय की ओर उपयोग को एकाग्र करना; यह विपरीत मार्ग है। ज्ञायक में अपनत्व की श्रद्धा के बल से ज्ञान का उपयोग सहज रूप से ज्ञायक की ओर झुक जाता है; यही मार्ग यथार्थ है। ज्ञान को ज्ञेयों से हटाकर ज्ञेयाकार की ओर ले जाने के विकल्प तो कर्ताबुद्धि का परिचायक हैं। इसप्रकार अज्ञानी को भी जानने की प्रक्रिया को समझने से परज्ञेय से अपनत्व तोड़ना सुगम हो जाता है; भेदज्ञान करने की पद्धति का परिचय प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् ज्ञायक में अपनत्व होते ही उक्त अभ्यास सहज वर्तने लगता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ज्ञानी को होती है

आत्मा के जाननस्वभाव के परिणमन का स्वरूप समझकर, जब ज्ञान में निःशंक निर्णय किया कि ज्ञेयाकार-ज्ञानाकार तो ज्ञान के विशेष हैं, मैं तो इनसे भी भिन्न ज्ञान सामान्य अर्थात् ज्ञायक हूँ - ऐसा निर्णय होते ही श्रद्धा उसमें अपनत्व कर लेती है और आत्मा निर्विकल्प अनुभूति का ज्ञानी हो जाता है। उक्त ज्ञानी को सविकल्पदशा में ज्ञेय तो अनेक प्रकार के ज्ञान में आते हैं; किन्तु ज्ञानी को उनका जानना परत्वबुद्धिपूर्वक रहता है, उनमें घुला-मिला दिखने पर भी एकत्व नहीं होता; उसको श्रद्धा होती है कि

परज्ञेय पदार्थों के तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी मेरे से भिन्न होने से वे सभी क्रमबद्ध अपने-अपने परिणमन में अनवरतरूप से व्यस्त हैं। उनको मेरे जानने की भी अपेक्षा नहीं है और मेरी ज्ञानपर्याय को भी उनके जानने की अपेक्षा नहीं है, मेरी ज्ञानपर्याय ही अपनी योग्यता से उनके जाननेरूप परिणामी हैं; अतः उनके परिणमन से तो मैं निरपेक्ष वर्तता हूँ मैं तो अपनी ही ज्ञानपर्याय का कर्ता हूँ। मेरे आत्मद्रव्य के परिणमन भी मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं। उनके प्रदेश भी मेरे आत्मद्रव्य के प्रदेश ही हैं; किन्तु उनके परिणमन भी उनकी पर्यायगत योग्यता के अनुसार धारावाहिक क्रमबद्ध हो रहे हैं, उनका भी ज्ञान मेरी ज्ञानपर्याय की तत्समयवर्ती योग्यता का सूचक है; इसलिए मैं तो उस पर्याय का तो नहीं वरन् तत्संबंधी ज्ञान का भी कर्ता नहीं हूँ। मैं तो त्रिकाल अकर्ता अनन्तगुणों का पिण्ड ज्ञायक ही हूँ। ज्ञानी को इसप्रकार की श्रद्धा वर्तने से, परज्ञेयों से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती अर्थात् अनन्तानुबंधी जन्य रागादि नहीं होते।

भेदज्ञान

प्रश्न - उक्त पद्धति द्वारा अपनाया गया भेदज्ञान क्या समयसार के संवर अधिकार का भेदज्ञान है?

उत्तर - संवरअधिकार ज्ञानी जीव के परिणमन को बताने वाला अधिकार है; इसलिये उसमें बताया भेदविज्ञान तो ज्ञानी जीव को ही प्रगट होता है; लेकिन ज्ञानी होने के पूर्व भी अभ्यासक्रम में भी ऐसे ही विकल्प होते हैं; लेकिन वे विकल्प सहज होते हैं, किये नहीं जाते; उनको यथार्थ भेदज्ञान मान लिया जावे तो भेदज्ञान तो नहीं होगा; अपितु मिथ्यात्व का उत्पाद होगा।

ज्ञानी का अपने ध्रुव वर्तने वाले त्रिकाली ज्ञायक में अपनापन हो जाने से, उसकी परिणति में ज्ञायक, स्व के रूप में सदैव अन्वयरूप से धारावाहिक वर्तता रहता है। ज्ञायक में अपनापन हो जाने से

आत्मा के अनन्तगुण भी स्वसन्मुख होकर परिणमने लग जाते हैं; फलतः अनन्तगुणों का मिश्र स्वाद-वेदन भी आंशिक धारावाहिक वर्तने लगता है उसमें ज्ञान का परिणमन भी होता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से उसको पर के साथ स्व का ज्ञान भी वर्तने लगता है। इस कारण ज्ञानी को एक साथ दोनों का ज्ञान वर्तने से, वह स्व को स्व के रूप में और पर को सहजरूप से पर जानता हुआ उत्पन्न होता है; इसलिये उसको भेदज्ञान भी सहजरूप से वर्तता रहता है; वह संवर अधिकार में बताया गया ज्ञानी का भेदज्ञान है। जिसकी महिमा इसी अधिकार के कलश १३०-१३१ में बताई है। और ऐसे भेदज्ञान में ही कलश १८१ में कही गई प्रज्ञारूपी छैनी कार्यरूप होकर परिणमती है।

उक्त भेदज्ञान अकेले ज्ञानगुण के परिणमन में नहीं होता; अपितु उसमें अनन्त गुणों की शुद्धता का पृष्ठबल रहता है। जैसे स्व-स्वामित्वसम्बन्ध शक्ति के कारण ज्ञान के प्रत्येक परिणमन का स्वामी आत्मा ही है, ज्ञेय नहीं, और अकार्य-कारण शक्ति के कारण ज्ञान, ज्ञेय का कारण भी नहीं और न ज्ञेय का कार्य है तथा त्याग-उपादान शून्यत्व शक्ति के कारण ज्ञान न तो ज्ञेय से कुछ लेता है और न ज्ञेय को कुछ देता है अर्थात् त्याग अथवा ग्रहण से शून्य रहते हुए वर्तता है। इसी प्रकार प्रकाशशक्ति के कारण ज्ञान आत्मा में ही स्वयं प्रकाशमान विषद् स्वसंवेदन (स्वानुभव) रूप कार्य करता है अर्थात् ज्ञान का प्रकाश (जानने रूपी कार्य) आत्मा का स्वयं आत्मा में ही होता है। तात्पर्य यह है आत्मा का स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वयं ही स्वयं से स्वयं में ही प्रकाशमान होता है, आत्मा से बाहर नहीं होता, ज्ञेय में जाकर नहीं होता। ज्ञान स्व-पर का ज्ञायक होते हुए भी उसको स्व-पर-

प्रकाशक कहा गया है, कारण ज्ञान तो ज्ञेय से निरपेक्ष रहकर, तटस्थ रूप से अपने परिणमन का प्रकाशन मात्र कर देता है। इसीप्रकार स्वच्छत्वशक्ति के कारण दर्पण के समान तटस्थ रहते हुए ज्ञेय जैसे हों वैसे ही ज्ञान दर्पण में प्रतिभासित होने लगते हैं, ज्ञान उनमें कुछ भी छेड़छाड़ नहीं करता। इसी प्रकार अन्य गुणों का भी समझ लेना; क्योंकि आत्मा के अनन्त गुणों के कार्यों का प्रकाशन आत्मा में तो ज्ञान द्वारा ही होता है। इसप्रकार भेदज्ञान करने वाली ज्ञान की पर्याय, अनन्तगुणों के पृष्ठबल सहित भेदज्ञान करती है; इसलिये ऐसा भेद ज्ञान ज्ञानी आत्मा को सहज होता है। अज्ञानी के ज्ञान को अन्य गुणों का पृष्ठबल नहीं होने से, मात्र भेदज्ञान के विकल्प तो हो जाते हैं; किन्तु भेदज्ञान नहीं हो पाता। इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व सन्मुख अज्ञानी को भी जितनी-जितनी मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी की क्षीणता होती जाती है उतनी-उतनी ही उसकी भी परिणति में सत्यार्थ भेदज्ञान की पात्रता बढ़ती जाती है और स्वानुभव होते ही ज्ञानी को होने वाला सहजवर्तने वाला भेदज्ञान वर्तने लगता है।

प्रश्न - भेदज्ञान के समय भी ज्ञेयों के भेद भी तो ज्ञान में अनेक रहते हैं, उस भेदज्ञान में निर्विकल्पता कैसे हो सकेगी?

उत्तर - ऐसा नहीं है। भेदज्ञान के विषय तो दो ही रहते हैं, अनेक नहीं, स्व के रूप में तो ज्ञायक के आकार परिणत ज्ञानपर्याय रहती है एवं पर के रूप में ज्ञेयों के आकार परिणत ज्ञानपर्याय रहती है। इस प्रकार ज्ञान के समक्ष तो मात्र स्व एवं पर का ज्ञान रहता है, अनेकता नहीं रहती।

प्रश्न - परज्ञेयों के भेद तो अनेक हैं, वे निरस्त कैसे होंगे?

उत्तर – जिनवाणी में सभी समस्याओं का समाधान है। जिनवाणी में असद्भूत-सद्भूत एवं उपचार-अनुपचार के भेदों द्वारा समस्त ज्ञेय समूह को चार भेदों में विभक्त कर, उनसे अपनत्व एवं कर्तृत्व तोड़ने के लिये समझाया है; इसलिए अपनत्व तोड़ने के लिये तो उन सबका समावेश एक पर में आ जाता है; क्योंकि स्व तो अभेद-अखण्ड त्रिकाली ज्ञायक एक ही रहता है। इसप्रकार जिन का ज्ञायक में सद्भाव नहीं हो, वे सब पर ही रहेंगे, स्व नहीं। इस प्रकार स्व के पक्ष में तो एक ज्ञायक रह जाता है और ज्ञायक के अतिरिक्त जो भी ज्ञात हों अभेद रूप से सब एक पर के पक्ष में रह जाते हैं, अनेकता नहीं रहती।

दूसरी अपेक्षा से भी विचार करें तो परमशुद्ध निश्चयनय का विषय त्रिकाली ज्ञायक तो स्व है और ऊपर कहे हुए चारों भेदों के विषयों में स्वामित्व, आदि से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व से सम्बन्ध रखने वाली अशुद्धि आदि सभी प्रकार की अशुद्धि अभेदरूप पर में आ जाती है। जिनवाणी में ऐसी अशुद्धि को भावकर्म भी कहा है। इसलिये आत्मा की शुद्धि के लिये, भावकर्म को भी पर मानकर उसका अभाव करने के लिए अभेदरूप से भेदज्ञान में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इस अपेक्षा भी अनेकता नहीं रहती।

इसप्रकार भेदज्ञान के लिये आत्मा के समक्ष एक ओर तो ज्ञायक स्व के रूप में रह जाता है और दूसरी ओर अभेदरूप से समस्त ज्ञेय सिमट कर, पर के रूप में रह जाते हैं। उक्त स्थिति स्व-पर को जाननेवाली ज्ञेयाकार ज्ञान पर्याय की वर्तती है। तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान का विषय भी उसी पर्याय में है, जो भेदज्ञान का कार्य

करती है। इसप्रकार भेदज्ञान करनेवाली पर्याय तथा जिनका स्व एवं पर के रूप में विभाजन अर्थात् भेद करना है। उन दोनों का अस्तित्व एक ही है; लेकिन स्व का स्व के रूप में स्वीकार हुए बिना, पर में परपने की श्रद्धा जाग्रत नहीं हो सकती और भेदज्ञान भी नहीं हो सकेगा।

ज्ञान स्व एवं पर का निर्णय भी कर सकता है एवं श्रद्धा के समक्ष स्व एवं पर के रूप में प्रस्तुत भी कर सकता है; किन्तु अपनेपन की श्रद्धा नहीं कर सकता। अपनेपन की श्रद्धा अर्थात् प्रतीति करने का कार्य तो श्रद्धागुण ही करता है अर्थात् अपनेपन की श्रद्धा तो श्रद्धा गुण का परिणामन है। वह श्रद्धा का परिणामन भी भेदज्ञान को तत्पर ज्ञानपर्याय के साथ वर्तता हो, तब ही प्रज्ञा भेदज्ञान करने में सफलता को प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति ज्ञानी के परिणामन में तो धारावाहिक वर्तती रहती है; इसलिये उसको भेदज्ञान सहज रूप से वर्तता रहता है; किन्तु अज्ञानी साधक ने भी उक्त पुरुषार्थ की निशंक श्रद्धा के बल से अपने ज्ञायक में अपनत्व की रुचि उत्पन्न कर ली हो और ज्ञायक के आश्रय से मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी की क्षीणता भी उत्पन्न कर ली हो तो वह भी, उक्त प्रकार के भेदज्ञान की स्थिति को क्रमशः बढ़ाता हुआ स्वानुभूति कर लेता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञायक में अपनत्व हुए बिना स्वानुभूति नहीं होती, उसके बिना परिणति में स्व का ज्ञान-श्रद्धान भी नहीं होता; और स्व के बिना पर का भेद भी नहीं हो सकता। इसलिये भेदज्ञान के लिये ज्ञायक में अपनत्व की श्रद्धा महत्वपूर्ण है, मात्र ज्ञान ही नहीं।

प्रज्ञाछैनी

प्रश्न – उक्त भेदज्ञान में प्रज्ञा छैनी का कार्य किस प्रकार होता है? और प्रज्ञा छैनी का स्वरूप क्या है?

उत्तर – प्रज्ञारूपी छैनी भी आत्मा की पर्याय है और जिसको छैनी द्वारा छेद करके, पर के रूप में भिन्न करना है, वह भी आत्मा की पर्याय है; किन्तु जिसकी स्व के रूप में श्रद्धा करना है वह अकेला ज्ञायक है। प्रज्ञा छैनी ज्ञान की वह पर्याय है जिसको अपनत्व की रुचि का तीव्र पृष्ठबल हो; ऐसी पर्याय ही स्वानुभव करने में समर्थ होती है। अर्थात् **मिथ्यात्वदशा होते हुए भी मिथ्यात्व का अभाव करने में समर्थ होती है** शास्त्रीय भाषा में कहो तो वही करणलब्धि को प्राप्त हुई पर्याय है। समयसारकलश १८१ की राजमल्ल टीका में कहा है कि “प्रज्ञा अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप अनुभव समर्थपने से परिणमा हुआ जीव का ज्ञानगुण, वही है छैनी” आगे पुनः कहते हैं कि “यहाँ भी जीव-कर्म (भावकर्म) को छेदकर दो करना है, उनको दो रूप से छेदने के लिये स्वरूप अनुभव समर्थ ज्ञानरूप छैनी है और तो दूसरा कारण न हुआ, न होगा।” इसप्रकार प्रज्ञाछैनी का स्वरूप स्पष्ट बताने के पश्चात्, जिनका छेदन करके दो के रूप में भिन्न करना है उनका स्वरूप स्पष्ट करते हैं कि “आत्मा चेतनामात्र द्रव्य, कर्म पुद्गल का पिण्ड अथवा मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति, ऐसी है उनमें दो वस्तुएँ उनको यद्यपि एक क्षेत्रावगाहरूप है, बन्धपर्यायरूप है, अशुद्धत्व विकाररूप परिणमा है; तथापि परस्पर सन्धि है निःसन्धि नहीं हुआ है, दो द्रव्यों का एक द्रव्य रूप नहीं हुआ है ऐसा है जो – प्रज्ञा छैनी के पैठने का स्थान, उसमें प्रज्ञाछैनी पैठती है, पैठी हुई छेदकर भिन्न-भिन्न करती है। कैसी है प्रज्ञाछैनी? ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर, मिथ्यात्व का नाश होने पर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अत्यन्त पैठन समर्थ है।” आगे और भी स्पष्ट करते हैं कि “भावार्थ इस प्रकार है कि भेदविज्ञान भेदपूर्वक विकल्परूप हैं,

ग्राह्य-ग्राहक रूप हैं, शुद्ध स्वरूप के समान निर्विकल्प नहीं है; इसलिये उपायरूप हैं।” आगे यह भी स्पष्ट करते हैं कि वह प्रज्ञा छैनी क्या करती है कि “सर्वथा प्रकार जीव (चैतन्य स्वरूपी जीव) को और कर्म (भाव कर्मरूपी अशुद्धि) को जुदा जुदा करती है।” फिर कहते हैं कि किस प्रकार भिन्न करती हैं?” “स्वपरस्वरूपग्राहक ऐसा जो प्रकाश गुण उसके त्रिकालगोचरप्रवाह में जीव द्रव्य को एक वस्तुरूप – ऐसा साधती है; भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध चेतना मात्र जीव का स्वरूप है ऐसा अनुभव गोचर आता है।”

इसप्रकार उक्त टीका में उक्त प्रश्न का सर्वांगीण समाधान आ गया है। प्रज्ञारूपी छैनी आत्मा की ही ज्ञान पर्याय है और जिसमें छेद करके भिन्न करना है, वह भी आत्मा की स्व-पर प्रकाशक स्वभावी ज्ञानपर्याय है; वह स्वरूप का भी प्रकाश आत्मा में कर रही है और पर के स्वरूप का भी आत्मा में प्रकाश कर रही है; क्योंकि ज्ञानपर्याय ही ज्ञायक के आकाररूप एवं पर के आकाररूप परिणम रही है और प्रकाशत्व गुण के कारण उनका प्रकाश भी आत्मा में ही हो रहा है; इसलिये व्युत्पन्न साधक, दोनों के बीच वर्तनेवाली सूक्ष्म संधि को ढूँढ़कर उसमें ज्ञायक के प्रति प्रगट हुई तीव्ररुचि उसके बलपूर्वक ज्ञान, ज्ञायक की ओर झुक जाता – आकर्षित हो जाता है और तत्समय ही निर्विकल्प होकर अतीन्द्रियता को प्राप्त ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति कर कृतकृत्य हो जाता है। इसीसमय ज्ञान की पर्याय में, स्व-पर प्रकाशकता सम्यक् रूपमें वर्तने लगती है, नयज्ञान भी सम्यक्ता को प्राप्त होकर भेदज्ञान सहजरूप से वर्तने लगता है। **ज्ञेयों के परिणमन भी उनकी योग्यतानुसार धारावाहिक क्रमबद्ध परिणमते हुए भासने लगते हैं** अर्थात् प्रतीति वर्तने लगती है। फलतः उनमें

एकत्व होने का अवकाश नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि आन्तरिक एवं बाह्य जीवन ही परिवर्तित हो जाता है।

ज्ञायक की पहिचान

प्रश्न - ज्ञायक में अपनत्व का आकर्षण कैसे उत्पन्न हो?

उत्तर - उक्त विषय समझने के पूर्व, यह निर्णय करना आवश्यक है कि “मैं हूँ कौन”? अनादि से अज्ञानी जीव ने यह निर्णय ही नहीं किया है कि “मैं ज्ञायक हूँ।” अपना अस्तित्व ज्ञायक माने बिना, उसमें अपनत्व का आकर्षण कैसे हो सकेगा? नहीं हो सकेगा; इसलिये सर्वप्रथम यह निःशंक निर्णय करके प्रतीति होनी चाहिये कि “मैं तो ज्ञायक ही हूँ।”

अनादि से अज्ञानी ने आत्मा एवं पुद्गल ऐसे दो द्रव्यों की मिली-जुली पर्याय, जो प्राप्त होती है उस ही को मैं मान रखा है; लेकिन मैंपना तो एक में ही हो सकता है, दो में नहीं हो सकता; और उन दो में भी एक तो चेतना लक्षण जीव है और दूसरा है अचेतन स्वभावी पुद्गल; दोनों में जातिगत भेद एवं स्वभाव भेद भी है। चेतना लक्षण जीव में जानने की क्रिया होती है; इसलिये जब तक वह शरीर में रहता है; तब तक शरीर में भी जानने की क्रिया दिखती रहती हैं और शरीर से निकलते ही जानन क्रिया के अभाव में शरीर निश्चेष्ट हो जाता है और मृत घोषित कर दिया जाता है तथा जलाकर मिट्टी अर्थात् पुद्गल में मिला दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि उस शरीर एवं शरीर की पर्याय का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह शरीर अथवा शरीराकार पर्याय, जिसको अभी तक मैंने, मैं और मेरा माना था, वह मेरी भूल थी, वास्तव में शरीर मैं नहीं हूँ।

इस शरीर से निकलकर जाने वाला जीव चेतना लक्षण होता है, उसमें ही जानने की क्रिया होती है तथा जिसकी विद्यमानता में यह शरीर भी जीवित माना जाता है। उसके शरीर से निकल कर जाने पर, जानने की क्रिया भी उसके साथ चली जाती है। इससे स्पष्ट है कि जाननक्रिया का जो स्वामी है, वही इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र जाता है; साथ ही उसका कभी नाश भी नहीं होता। शरीरों का परिवर्तन होते हुए भी, वह तो अविनाशी अनादि-अनन्त विद्यमान बना रहता है। उक्त चर्चा से स्थिति स्पष्ट है कि चेतना लक्षण जीव एवं शरीर की मिलीजुली पर्याय में से, अपनत्व करने योग्य तो अविनाशी रहने वाला जानन क्रिया का स्वामी ऐसा ज्ञायक जीव ही है; शरीर तो नाशवान् होने से अपनत्व करने योग्य तो नहीं; अपितु अपनत्व तोड़कर परत्व मानने योग्य है। यह सभी को अनुभव है, सरलता से समझ में आने योग्य यथार्थ स्वरूप है; लेकिन अज्ञानी को इस शरीराकार पर्याय में इतनी प्रगाढ़ता से अपनापन जमा हुआ है कि वह उक्त प्रत्यक्ष दिखने वाले सत्य को भी स्वीकार नहीं होने देता; इसलिये जिस आत्मार्थी ने अन्तरंग की समझ एवं रुचिपूर्वक उक्त तथ्य को निःशंकतापूर्वक स्वीकार कर लिया होगा; वही आत्मार्थी आत्मा के स्वरूप को समझकर, उसमें भी त्रिकाल विराजमान ऐसे अपने ज्ञायक को पहिचानकर, उसी में अपनेपन का आकर्षण उत्पन्न कर सकेगा, अन्य नहीं।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है और वास्तविक स्थिति भी यही है कि प्राप्त पर्याय में जानने की क्रिया का स्वामी अमूर्तिक होने से दृष्टिगोचर नहीं होता; फिर भी बुद्धिगम्य अवश्य होता है उसका ही अविनाशी अस्तित्व है; इसलिये उसकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी और वह सत्ता भी अनादिनिधन स्वीकार करनी पड़ेगी। अमूर्तिक होने पर भी उसमें जानने के अतिरिक्त सुख-दुःख का वेदन आदि

अनन्त सामर्थ्य भी रहती है – ऐसी अनन्त शक्तियों की धारक जो भी सत्ता है, वही आत्मा है। वही आत्मा अनन्त शक्तियों के साथ अनादि-अनन्त ध्रुव रहते हुए, प्रत्येक समय परिवर्तन भी करता रहता है। उनकी सामर्थ्यों के परिवर्तन से उसका अस्तित्व हमको अनुभव में भी आता है। जैसे कभी सुख का वेदन कभी दुःख का वेदन होता है और उनका ज्ञान भी प्रत्येक समय आत्मा को होता रहता है और अनेक वर्षों के अन्तराल होने पर भी वे सुख-दुःख के वेदन आदि घटनाएँ ज्ञान में प्रत्यक्षवत् हो जाती हैं, इनसे भी आत्मा का ध्रुवत्व रहते हुए परिणमन भी स्पष्ट रूप से समझ में आता है। ऐसी सार्मर्थ्यों का धारक और अनादि अनन्त रहने वाला आत्मा ही, मृत्युकाल में इस शरीर से निकलकर अन्यत्र जाता है “वही मैं हूँ”, उसका कभी नाश नहीं होता। और इस शरीर का तो वर्तमान में ही नाश हो जाता है; इसलिये मेरा अस्तित्व तो वह आत्मा ही है अर्थात् “मैं तो ज्ञान आदि अनन्तशक्तियों का भंडार ऐसा ज्ञायक आत्मा हूँ।” जिस शरीर को मैंने मेरा अस्तित्व मान रखा था, “वह मैं नहीं हूँ”। अन्तरंग में ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाने से, अपनापन सहज ही ज्ञायक की ओर हो जाता है। ऐसा होते ही आत्मा की अन्य शक्तियाँ भी ज्ञायक के सन्मुख कार्यशील हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर में अपनेपने की मान्यता छूटते ही, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्त्री-पुत्रादि सचेतन परिकर एवं मकान, धन आदि अचेतन परिकर में जो अपनापन रहता था, उस मान्यता में भी ढीलापन आ जाता है एवं शरीर के रक्षण-पोषण में भी ग्रद्धतापूर्वक कर्तृत्वबुद्धि रहती थी इसमें भी शिथिलता आने लग जाती है। और ज्ञायक में अपनेपने की श्रद्धा में जागरूकता वर्तने लगती है। यही सच्चे आत्मार्थी का चिन्ह है।

प्रश्न – इससे ज्ञायक का अस्तित्व तो सिद्ध होता है; लेकिन

उसकी पहिचान तो नहीं होती?

उत्तर – जानने की क्रिया की प्रगटता से ही उसकी पहिचान तो हो जाती है, **जिनवाणी में आत्मा को पहिचानने का लक्षण ज्ञान अर्थात् जाननक्रिया ही बताया है।** यह ज्ञान आत्मा में ही मिलता है, अन्य किसी में नहीं मिलता और आत्मा निगोद में पहुँच जावे अथवा सिद्ध दशा में पहुँच जावे तो भी ज्ञान तो धारावाहिक रूप से अक्षुण्ण वर्तता रहता है। ऐसा ज्ञान अर्थात् जानने की क्रिया से उसके स्वामी को पहिचानना अत्यन्त सुगम हो जाता है। क्रिया, क्रियावान् के बिना नहीं होती और क्रियावान् और क्रिया का तादात्म्य होता है वह उससे अलग नहीं रहता। इसलिये जानन क्रिया ही ज्ञायक है, उस भेद को गौण करके देखें तो वह ज्ञान स्वयं ही तो ज्ञायक है और स्वयं ही ज्ञान है; ज्ञायक का अस्तित्व अन्यत्र कहीं नहीं होता। श्रद्धा के बलपूर्वक ज्ञान को अन्तर्मुख करके देखें तो ज्ञायक के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं अर्थात् अनुभव होता है। अमूर्तिक ज्ञायक, इन्द्रियाधीन ज्ञान का विषय नहीं बन सकता, उसका तो आगम ज्ञान द्वारा स्वरूप समझकर निःशंक निर्णय होने पर, उस रूप अपना अस्तित्व मानने की रुचि प्रगट होती है। तत्पश्चात् ज्ञान अन्तर्लक्ष्यी होकर अमूर्तिक ज्ञायक को भी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है, निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चख लेता है। इसप्रकार उक्त प्रकार के अनुभव होने पर ही सच्ची पहिचान होती है एवं सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। अभ्यासक्रम में तो प्रथम आगम ज्ञान द्वारा निःशंक श्रद्धा-विश्वास किया जाता है एवं उसी रूप अर्थात् ज्ञायकरूप अपना अस्तित्व मानने की तीव्र रुचि जाग्रत होती है तथा शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखने वालों में जो अपनापन

माना हुआ है, उसमें ढीलापन आता है; तब क्रमशः अभ्यास से ज्ञायक अनुभव में आता है, यही है ज्ञायक को पहिचानने की विधि अज्ञानियों के द्वारा मानी हुई ध्यान आदि किसी भी विधि से ज्ञायक प्रत्यक्ष नहीं होता।

प्रश्न – आत्मा में तो जानन क्रिया के अतिरिक्त मिथ्या मान्यता तथा राग-द्वेष आदि के विकारीभाव भी तो हो रहे हैं; इसलिये आत्मा को ज्ञायक ही कैसे माना जावे?

उत्तर – आत्मार्थी बन्धु! उक्त प्रश्न की जानकारी भी तो तुमको ज्ञान द्वारा ही प्राप्त हुई है? तभी तो तुमने प्रश्न प्रस्तुत किया है। इसीप्रकार आत्मा में ही उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के भावों की जानकारी भी तो ज्ञान द्वारा ही होती है। प्रतिसमय अनेक प्रकार के परिवर्तन भावों में होते रहते हैं, उन सबका ज्ञान, धारावाहिक वर्तने वाली जानन क्रिया में होता है उसी से वे भाव अनुभव में भी आते हैं। इसप्रकार स्पष्ट है कि **आत्मा में उक्त प्रकार के बदलते हुए भावों को भी जानने वाली ज्ञान क्रिया तो धारावाहिक अनादि-अनन्त आत्मा में चलती ही रहती है।** इस प्रकार की अखण्ड धारा को ही यहाँ ज्ञान की धारा के नाम से संबोधित किया है और जानन क्रिया के स्वामी ज्ञान गुण को ज्ञायक भी कहा है; किन्तु उसका तात्पर्य ध्रुव ज्ञायक नहीं है। सम्यग्दृष्टि को ज्ञायक में अपनेपन के साथ वर्तनेवाली ज्ञानधारा वह यह ज्ञानधारा नहीं है यह धारा तो निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान् तक के प्रत्येक जीव में अखण्ड रूप से वर्तती रहती है; लेकिन इसके साथ ही वर्तनेवाली विभावभावों की धारा तो प्रत्येक क्षण बदलती हुई संसारी जीव को ही वर्तती है।

संसारी जीव को वर्तनेवाली उक्त विभावभावों की धाराओं का

कर्तृत्व के भावों का कर्म चेतना के नाम से एवं भोक्तृत्व भावों का कर्मफलचेतना के नाम से परिचय कराके तथा इनका अभाव करने की मुख्यता से अथवा दोनों को संयुक्त कर, एक कर्म चेतना के नाम से अथवा कर्म धारा से नाम से भी संबोधित किया है। और ज्ञानी को ज्ञायक में अपनेपन के साथ वर्तने वाली चेतना को ज्ञानचेतना अथवा ज्ञानधारा कहकर परिचय कराया है। ज्ञानी की इस धारा में अनन्तगुणों का रस अर्थात् सामर्थ्यों का अंश रहता है, अकेले ज्ञान का नहीं। संसारी की दोनों धाराओं में से असैनी जीवों को तो कर्म फलचेतना की मुख्यता रहती है और सैनी जीवों को तो कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दोनों ही मुख्य रहती हैं। उक्त ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को चेतना इसलिये कहा है कि चेतन आत्मा इन धाराओं में चेतता है, चेतन की जाग्रति-चेतनता, अन्यप्रकार में नहीं होती। इनमें से अज्ञानी जीव को तो ज्ञानधारा प्रगट ही नहीं होती; मात्र कर्मधारा वर्तती है। अरंहत एवं सिद्ध भगवान् को कर्मधारा का आत्यन्तिक अभाव होकर, मात्र ज्ञानधारा ही वर्तती है; लेकिन साधक ज्ञानी जीव को ज्ञानधारा का भी आविर्भाव हो जाता है; इसलिये उसको तीनों धाराएँ गुणस्थानानुसार मुख्यता-गौणतापूर्वक वर्तती रहती हैं; फिर भी ज्ञान तो इन सब भावों को निरंतर जानता रहता है। विकारी भाव तो नवीन-नवीन उत्पन्न होते हैं और नाश होते रहते हैं। ज्ञानी तो उनका भी ज्ञायक ही रहता है।

विशेष में एकत्व से विकार होता है

प्रश्न – आत्मा तो ज्ञान ही करता है, तो विकार कैसे हो जाता है?

उत्तर – आत्मा तो ज्ञायक ही है और वह धारावाहिक जानने

की क्रिया ही करता है; लेकिन वह क्रिया स्व एवं पर को जानती हुई प्रगट होती है। और उसके साथ तत्समय ही श्रद्धा आदि गुणों का कार्य भी प्रगट होता है, सबके प्रदेश एक ही हैं; इसलिये सबका वेदन साथ ही होता है। लेकिन उनमें श्रद्धा का कार्य मुख्य रहता है; उसका कार्य है अपनत्व करना। श्रद्धा अर्थात् अपनत्व का विषय एक ही होता है उसमें द्वैत नहीं होता। और ज्ञान के विषय स्व एवं पर अनेक होते हैं। स्व एवं पर संबंधित प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं और विशेष में भी अनेकताओं की भरमार रहती है; इसलिये विशेषों को जाननेवाला ज्ञान सविकल्पक रहता है, यहाँ विकल्प का अर्थ राग सहित का विकल्प नहीं समझना अपितु अनेकता के अर्थ में समझना। और ज्ञायक में ज्ञान का परिणमन नहीं समझना; अपितु आत्मा का ध्रुवभाव समझना।

श्रद्धा का विषय होता है मात्र एक। इसलिये वह निर्विकल्पक रहती है, द्वैत का अनुसरण नहीं करती। इसलिये उसका विषय मात्र एक सामान्य ही रहता है; किन्तु तत्समय के ज्ञान में सामान्य सहित विशेष स्व एवं पर सब रहते हैं। सामान्य सबका ध्रुव रहता है। श्रद्धा ने सामान्य ऐसे ध्रुव में अपनत्व किया; इसलिये वह अपने विषय को ज्ञान के साथ बदलती नहीं। श्रद्धा जिसको अपना मान लेती है, उसमें ही अपनापन बनाये रखती है। ज्ञान अपने विषय परिवर्तन करता रहे तो भी श्रद्धा तो उसी में अपनत्व रखती है। अनेक भव परिवर्तन होते रहें तो भी श्रद्धा ने जिसको स्व मान लिया वह उसको नहीं छोड़ती; उसकी प्रत्येक समय की पर्याय उस ही को स्व मानती हुई प्रगट होती रहती है; लेकिन जब श्रद्धा स्वयं ही अपनी मान्यता बदल लेवे तो उसका अपनापन का विषय भी तत्समय परिवर्तन हो जाता है। ऐसी उसकी

स्वतंत्रता भी है और ईश्वरता भी है, ज्ञान आदि कोई भी उसकी मान्यता को परिवर्तित नहीं कर सकता। श्रद्धागुण का स्वभाविक परिणमन तो है कि, स्व को अपना मानना; जो अपना नहीं है उसको अपना मानना तो विपरीत मान्यता अर्थात् मिथ्याश्रद्धा है।

ज्ञान का कार्य तो अत्यन्त निरपेक्ष तटस्थ रहते हुए मात्र जानना ही है, अपने को तो सामान्य-विशेषों सहित स्व ज्ञेय के रूप में जानना एवं सामान्य-विशेषों सहित परज्ञेयों को परज्ञेय के रूप में जानना मात्र है। अपनत्व करना, उसका कार्य नहीं है, वह श्रद्धा का कार्य है; लेकिन श्रद्धा ने स्वज्ञेय अर्थात् ज्ञायक में अपनत्व कर लिया तो उसके फलस्वरूप परिणति में शुद्धि वीतरागता का उत्पादन होने लगता है और स्वाभाविक कार्य के विपरीत श्रद्धा ने परज्ञेय में अपनापन मान लिया तो यह उसका विपरीत कार्य होने से अशुद्धि अर्थात् मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि का उत्पादन होने लगता है।

आत्मवस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि समग्र अखण्ड वस्तु ज्ञान का अनुसरण नहीं करती; अपितु श्रद्धा का अनुसरण करती है। श्रद्धा ने जिसको अपना मान लिया, आत्मा के अनन्त गुण भी उस ओर ही कार्यशील हो जाते हैं; फलतः स्वज्ञेय ऐसे ज्ञायक को अपना मानने से समग्र आत्मा की शुद्धि प्रारंभ हो जाती है, वह बढ़ते-बढ़ते अन्त में पूर्ण शुद्ध होकर यह आत्मा भगवान् बन जाता है। इसके विपरीत परज्ञेयों में से किसी को भी अपना मानने से संसारमार्ग चलता रहता है।

उक्त चर्चा से स्पष्ट है कि आत्मा तो ज्ञायक ही है और जानना उसका स्वभाव है; इसलिये आत्मा तो अपने श्रद्धा-ज्ञान सहित

अनन्तगुणों के कार्यों को भी जानता ही है; उसके जानने की क्रिया से विकार उत्पन्न नहीं होता। विकार की उत्पादक तो श्रद्धा एवं चारित्र्य गुण की तत्समयवर्ती पर्याय की योग्यता है; यह उपादान की मुख्यता का कथन है। इसी को निमित्त की मुख्यता से तत्समयवर्ती कर्म का उदय निमित्तकर्ता है, ऐसा कहा जाता है; किन्तु ज्ञान को नहीं।

प्रश्न – श्रद्धा का विषय सामान्य होता है – ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है? एवं उसकी मोक्षमार्ग में उपयोगिता क्या है?

उत्तर – प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक ही होता है। पदार्थ के अभेद पक्ष को सामान्य एवं भेदपक्ष को विशेष कहते हैं अथवा ध्रुव को सामान्य एवं पर्याय को विशेष कहते हैं। ज्ञान का विषय तो सामान्य-विशेषात्मक समग्र पदार्थ होता है। ज्ञान का स्वभाव स्व एवं पर सबको जानने का है। जब वह स्व को स्व के रूप में एवं लोकालोक को पर के रूप जानेगा तो वह स्वज्ञेय को भी सामान्य विशेषात्मक एवं परज्ञेयों को भी सामान्य-विशेषात्मक जानेगा। मोक्षार्थी का प्रयोजन तो मोक्षमार्ग प्रगट करना होता है; अतः स्व की रुचि होना स्वाभाविक है; इसलिए स्व की मुख्यता से समझेंगे जब आत्मा परपदार्थों की ओर से ज्ञान को व्यावृत्त्य करके, आत्मपदार्थ को ज्ञेय बनाता है तो आत्मपदार्थ भी सामान्य-विशेषात्मक ही होता है। ज्ञान ने तो उस समग्र पदार्थ को आत्मा के समक्ष स्व के रूप में प्रस्तुत कर दिया; किन्तु उसमें भी गुणभेद एवं पर्याय आदि की अनेकताएँ रहती हैं; दूसरी ओर श्रद्धा का विषय अद्वैत होने के कारण उसको तो उसका विषय मात्र एक और अभेद-अखण्ड होना चाहिये; इसलिये समग्र आत्मपदार्थ में श्रद्धा का विषय सामान्य ही हो सकता है, विशेष नहीं; लेकिन तत्समय वर्तनेवाला ज्ञान तो सामान्य सहित विशेष को भी जानेगा; क्योंकि

ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा का जो सामान्य है, वही अभेद, नित्य एवं एक होता है, वही ध्रुव है, वही त्रिकाली ज्ञायक है और वही द्रव्यदृष्टि का विषय है। उसमें अपनत्व होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार आत्मपदार्थ के सामान्य स्वभाव में अपनत्व करने से ही मोक्षमार्ग रूपी प्रयोजन सिद्ध होता है। यही इसकी उपयोगिता है।

सामान्य में अपनत्व का लाभ

प्रश्न – परिणति में इसका लाभ क्या होगा?

उत्तर – मोक्षमार्ग तो ज्ञानी की परिणति में ही प्रगट होता है इसलिये यथार्थ मार्ग अपनाने का फल तो परिणति में ही होता है। मोक्षमार्गरूपी प्रयोजन के लिए तो ज्ञान प्रत्येक समय सामान्य अर्थात् ज्ञायक को तो अपनत्वपूर्वक स्वज्ञेय के रूप में जानेगा एवं अन्य सामान्य विशेषात्मक पर पदार्थों के साथ आत्मा के विशेषों को भी परज्ञेय के रूप में जानता है। 'रुचि अनुयायीवीर्य' के अनुसार श्रद्धा के बल से अनन्त गुणों के साथ ज्ञान भी स्वज्ञेय की ओर झुकता-ढलता हुआ उत्पन्न होगा, स्व की ओर झुकता हुआ ज्ञान परज्ञेयों को भी परत्वपूर्वक जानता हुआ वर्तता रहता है। स्वज्ञेय ध्रुव होने से और वह ज्ञान में धारावाहिक वर्तते रहने पर भी चारित्र्य की निर्बलता के कारण ज्ञान परज्ञेयों की ओर भी झुक जाता है; एकमेकसा हो जाता है; लेकिन श्रद्धा की जाग्रति से उनमें एकत्व (अपनत्व) नहीं हो पाता; फलतः आत्मार्थी को न तो प्रमाद हो सकता है और न स्वच्छन्दता हो सकती है वरन् सदैव अपना प्रयोजन सिद्ध करने की जागरुकता बनी रहती है।

दूसरा लाभ यह है कि उसकी द्रव्य को अर्थात् सामान्य को

देखने की दृष्टि हो जाने से, वह जिस प्रकार स्वज्ञेय को द्रव्यदृष्टि से देखता है, उसी प्रकार परज्ञेयों को भी द्रव्यदृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि में परज्ञेयों के परिणमन गौण होकर सामान्य अभेद द्रव्य ही मुख्य रहता है, उनके परिणमन तद्तद् द्रव्यों के परिणमन उनकी योग्यतानुसार क्रमबद्ध परिणमते हुए भासने लगते हैं; फलतः मिथ्यात्व तो होता ही नहीं अपितु; रागादि भी प्रतिसमय क्षीणता को प्राप्त होते जाते हैं, तात्पर्य यह है कि मोहादि भावों की उत्पत्ति का अवकाश भी नहीं रहता।

इसप्रकार सामान्य में अपनत्व होने का अपूर्व लाभ होता है।

प्रश्न – ज्ञान में तो परज्ञेयों के परिणमन ही ज्ञात होते हैं; सामान्य तो ज्ञात होता नहीं?

उत्तर – परिणमन अर्थात् विशेष तो सामान्य बिना होता नहीं और विशेष के अभाव में सामान्य का भी अस्तित्व नहीं होता। इसलिये जहाँ पर्याय है वहाँ द्रव्य भी है और जहाँ द्रव्य होता है वहाँ पर्याय भी रहती है; लेकिन पर्याय व्यक्त रहती है और द्रव्य अव्यक्त रहता है। इसलिये पर्याय तो स्थूल ज्ञान में भी आ जाती है और द्रव्य अर्थात् सामान्य स्थूल ज्ञान में ज्ञात नहीं होता। लेकिन जहाँ भेद अर्थात् पर्याय है वहाँ अभेद ऐसा सामान्य भी रहता है अवश्य। और श्रद्धा निर्विकल्प होती है, वह तो अभेद-सामान्य को ही विषय करती है। इसलिये ज्ञानी सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में से, सामान्य में अपनापन स्थापन कर लेता है। श्रद्धा का विषय अव्यक्त रहता है, इसलिये ज्ञान के अनुभव में नहीं आता; लेकिन श्रद्धा का अपनेपने की मान्यता रूपी कार्य तो धारावाहिक रूप से चलता हुआ अनुभव में

आता है। उसका विशेषों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन नहीं होता; क्योंकि श्रद्धा का ऐसा ही स्वभाव है। जैसे ग्यारह अंग और नौ पूर्व के अभ्यासी को भी मिथ्या मान्यता धारावाहिक अव्यक्त रूप से वर्तती रहती है। इसीप्रकार नववें प्रैवेयक जाने वाले शुक्ल लेश्या की मन्दकषायधारक द्रव्यलिंगीसाधु को भी यह मिथ्याश्रद्धा अव्यक्तरूप से धारावाहिक वर्तती रहती है। अनुभव में नहीं आती।

ज्ञानी हो जाने पर ज्ञायक में अपनेपने की श्रद्धा परिणति में तो प्रगट हो जाती है और उपयोगात्मक ज्ञान में अप्रगट रहते हुए भी उसका कार्य प्रत्येक पर्याय में धारावाहिक प्रगट वर्तता रहता है, स्मृति में नहीं लाना पड़ता। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक के तो सभी कार्य, मिथ्यात्व दशा में वर्तनेवाले कार्यों के समान, धंधा-व्यापार, स्त्री-संभोग-कुटुंब परिपालनार्थ अशुभ लेश्या संबंधी भाव वर्तते हुए दिखते हैं; लेकिन फिर भी, सम्यक्श्रद्धा का कार्य अव्यक्त रहते हुए भी धारावाहिक रूप से अक्षुण्ण वर्तता रहता है। सम्यग्दृष्टि हो जाने के कारण से उसका जीवन अस्वाभाविक और कृत्रिम नहीं हो जाता; अपितु सामान्य बना रहता है। इसी कारण अज्ञानी को यह विश्वास नहीं होता कि ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि अर्थात् मोक्षमार्गी हो सकता है; लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि अन्तर तो ज्ञानी की मान्यता में होता है। मान्यता अव्यक्त रहती है, वह ज्ञानी के तो ज्ञान में व्यक्त रहती है; इसलिये उसको उसका अनुभव भी वर्तता है; लेकिन अन्य व्यक्ति को उसका विश्वास नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को पहिले अपना मित्र मानता था फिर किन्हीं कारणों से वह उसी व्यक्ति को शत्रु मानने लग गया तो उसकी उस मान्यता को अन्य कैसे जान सकेगा अपितु जिसको शत्रु मान लिया गया है वह भी

नहीं जान सकेगा; इसप्रकार श्रद्धा का परिणमन धारावाहिक अक्षुण्ण रूप से तब तक चलता रहता है, जब तक श्रद्धा स्वयं ही अपनी मान्यता नहीं बदलती, इसीप्रकार अज्ञानी को भी ज्ञायक के अतिरिक्त अन्य ज्ञेयों में अपनेपने की मान्यता व्यक्त रूप से वर्तती रहती है; लेकिन उसको मान्यता तो कोई कार्य ही नहीं लगता और वह उसको मिथ्या भी नहीं मानता; उसको वह स्वाभाविक लगती है। इसकारण उसका कार्य प्रगट होते हुए भी उसको श्रद्धा का भी कोई कार्य हो ऐसा नहीं लगता।

प्रश्न – ज्ञान तो ज्ञेयाकार परिणत अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है, ऐसी स्थिति में वह, ज्ञेय पदार्थों में स्थित सामान्य-विशेषों को जानकर, सामान्य में एकत्व कैसे कर सकेगा?

उत्तर – ज्ञान, ज्ञेयाकार परिणत ज्ञान पर्याय को जानता है, यह तो उपादान की मुख्यता से किया गया कथन है। कार्य की संपन्नता तो पाँच समवायों के समवायीकरणपूर्वक ही होती है। पाँच समवाय में चार तो कार्यरूप परिणत होने वाले उपादान द्रव्य में होते हैं और पाँचवाँ निमित्त नाम का समवाय पर द्रव्य का परिणमन होता है। ऐसा निमित्त नाम का समवाय कार्य की संपन्नता के समय कार्यरूप परिणमन नहीं करते हुए भी, अपने में अपनी योग्यता से उसी कार्य के अनुकूल परिणमते हुए, कार्य की संपन्नता में निमित्त होता है। उसकी उपस्थिति भी उतनी ही अनिवार्य है, जितनी उपादान की। इसीकारण उपादान के चारों समवायों को मिलाकर उपादान कारण संज्ञा प्राप्त होती है और निमित्त एक को ही निमित्त कारण संज्ञा प्राप्त होती है। पाँचों समवायों के समवायीकरणपूर्वक कार्य तो एक ही होता है। उसी कार्य को उपादानकारण की मुख्यता से उपादान का कार्य कहा जाता है और उसी कार्य को निमित्त कारण की मुख्यता से

निमित्त का कार्य कह दिया जाता है; जबकि स्थिति यह है कि उस कार्य को सम्पन्न कराने वाला न तो अकेला उपादान ही है और न अकेला निमित्त ही है। दोनों की समग्रता कार्य की उत्पादक है।

इसीप्रकार ज्ञेय को जाननेरूप कार्य तो ज्ञान में एक ही हुआ है; लेकिन उसके कारण दो हो जाते हैं, उपादान तो चार समवाय युक्त ज्ञान पर्याय होती है और निमित्त ज्ञेयरूपी पदार्थ होता है। निमित्त के भी २ भेद होते हैं, बहिरंग निमित्त तो ज्ञेय पदार्थ होता है और अन्तरंग निमित्त ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम होता है। जानने का कार्य तो ज्ञान पर्याय में होता है; इसलिये आत्मा की ज्ञानपर्याय ने तो अपनी तत्समय की योग्यता से नियतकाल में अपनी स्वशक्ति से जानने का कार्य किया है। तब सहज ही प्रश्न उपस्थित हो जावेगा कि ज्ञान ने किसको जाना? उसकी पूर्ति करता है बहिरंग निमित्त अर्थात् जिसको जाना वह है उस कार्य का बहिरंग निमित्त और उसी समय आत्मा की जानने की शक्ति के प्रादुर्भाव में निमित्त हुआ, ज्ञानावरणी आदि द्रव्य कर्मों का तदनुकूल क्षयोपशम, वह है अन्तरंग निमित्त। इसप्रकार जानने रूप कार्य का उत्पादन तो सभी के समवायीकरणपूर्वक हुआ है; लेकिन उसका परिचय कराने के लिये तो किसी एक कारण की ही मुख्यता से परिचय कराया जा सकता है। उपादान की मुख्यता से यही कहा जावेगा कि **ज्ञान की पर्याय ज्ञेयाकार हुई, वह ज्ञान की ही पर्याय है, ज्ञेयाकार ज्ञानाकार ही है; इसलिये आत्मा तो ज्ञानपर्याय को जानता है।** उसी जानन क्रिया को निमित्त की मुख्यता से परिचय कराने के लिये यह कहा जावेगा कि आत्मा में तत्समय ज्ञानावरणी कर्म का तद्तद् ज्ञेय को जानने का क्षयोपशम होने से उस ज्ञेय को जाना। दोनों प्रकार की कथन पद्धति द्वारा एक ही कार्य का परिचय कराया गया है, यह

लक्ष्य में रखने योग्य है। निमित्त की मुख्यता से उसी कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है और उपादान की मुख्यता से उपादेय (ग्रहण करने योग्य नहीं) कहा जाता है। ज्ञानी की तो श्रद्धा सम्यक् हो जाने से, उसको तो कथन पद्धति द्वारा किये गये कथनों से भ्रम नहीं होता; जानन क्रिया का कर्ता ज्ञान को ही मानता है, ज्ञेय अथवा कर्म के क्षयोपशम को नहीं। इसके विपरीत अज्ञानी भ्रमित होकर निमित्तों को कार्य का करने वाला मान लेता है। इस प्रकार दोनों की श्रद्धा में अन्तर होने से ज्ञान भी भ्रमित हो जाता है।

दूसरा प्रश्न है कि ज्ञेय पदार्थ को जाने बिना, ज्ञेयाकार ज्ञान में सामान्य-विशेष का विभाजन कैसे हो पावेगा? समाधान बहुत स्पष्ट है कि निमित्त और नैमित्तिक का समकाल होता है और ज्ञेय के अनुरूप ही ज्ञान का परिणमन होता है। तभी वह निमित्त कहलाता है; इसलिये ज्ञेय पदार्थ और ज्ञेयाकार ज्ञान एक सरीखे ही होते हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता। ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है तो ज्ञान की पर्याय भी ज्ञेय को सामान्य-विशेषात्मक जानती हुई उत्पन्न होती है; ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध है; अतः उक्त शंका भी निरस्त हो जाती है और निश्चित हो जाता है कि ज्ञान का जानना सामान्य-विशेषात्मक ही होता है।

तीसरी शंका है कि ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हुए भी श्रद्धा, उनमें से मात्र सामान्य में ही अपनत्व कैसे करेगी? समाधान स्पष्ट है कि ज्ञान तो सविकल्पक अर्थात् स्व एवं पर द्वैत को जानता है; इसलिये वह तो ज्ञान द्वारा समग्र पदार्थ को जानता है; इसलिये वह एक साथ सामान्य-विशेषात्मक संपूर्ण पदार्थ को ग्रहण कर लेता है और वही ज्ञान, नयज्ञान द्वारा द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य (अभेद) और विशेष (भेद) ऐसे भेद करके भी उसी पदार्थ को

जानता है। दूसरी ओर श्रद्धा निर्विकल्पक होने से उसका विषय सामान्य-अभेद-नित्य और एक ही होता है; इसलिये ज्ञान द्वारा प्रस्तुत विषयों में से श्रद्धा, द्रव्यार्थिक नय के विषय, ऐसे सामान्य में अर्थात् त्रिकाली ज्ञायक में अपनत्व स्थापन कर लेती है अर्थात् उस रूप अपने को मानने लगती है। इस प्रक्रिया में अन्य जितने भी विषय थे ज्ञान में यथावत् बने रहते हैं; लेकिन श्रद्धा के लिये तो वे नहींवत् होते हैं। तत्पश्चात् ज्ञान में तो श्रद्धा द्वारा स्थापित स्वज्ञेय और उसमें अपनत्व का ज्ञान एवं परज्ञेयों का और उनमें परत्व का ज्ञान भी समान कोटि से व्यक्त वर्तता रहता है। मुख्यता-गौणता अथवा लब्ध्यात्मक ज्ञान अथवा उपयोगात्मक ज्ञान ये तो ज्ञान पर्याय की प्रगटता के भेद है; लेकिन श्रद्धा में तो उसका विषय सदैव व्यक्त रहता है।

इसके विपरीत, अज्ञानी का ज्ञान भी जानता तो सामान्य विशेषात्मक समग्र पदार्थ को ही है; लेकिन अनादिकाल से उसकी तो पर में अपनेपने की मान्यता धारावाहिक चलती चली आ रही है। और मान्यता तो श्रद्धा का कार्य है, वह कार्य तो अक्षुण्ण रूप से तब तक धारावाहिक चलता रहता है जबतक वह अपनी मान्यता स्वयं नहीं बदले; इसलिये अज्ञानी की मान्यता तो अनादि की है। ऐसी मान्यता को मिथ्या श्रद्धा-मिथ्यादर्शन-मिथ्यात्व आदि कहा जाता है। ऐसे अज्ञानी को न तो स्व एवं पर का विवेक होता है और न सामान्य-विशेष तथा द्रव्य-पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है और न वह नय ज्ञान का महत्त्व एवं यथार्थ प्रयोग जानता है और मिथ्या श्रद्धा होने से उसका ज्ञान भी स्थूल रहता है; इसलिये वह पर को ही स्व मानकर, उस ही में एकत्वपूर्वक वर्तता रहता है। उसकी श्रद्धा में तो व्यक्त पर्याय ही स्व होती है। फलतः उसको तो पर में अपनेपन की मान्यता ही, स्वाभाविक लगती हैं और अपने आत्मा का स्वरूप

समझना असंभव कार्य लगता है। आत्मा को ज्ञायक मानना तो उसको पागलपन लगता है।

इसप्रकार निःशंक होकर यह स्वीकार करना चाहिये कि ज्ञान का कार्य तो श्रद्धा से निरपेक्ष रहकर तटस्थतापूर्वक स्व एवं पर को जानता है और श्रद्धा का कार्य ज्ञान से निरपेक्ष रहकर स्व एवं पर में से मात्र स्व को ही स्व के रूप में मानता है। दोनों के कार्य आत्मा में एक साथ वर्तते रहते हैं अर्थात् एक ही परिणामन में दोनों के कार्य रहते हैं। इसप्रकार श्रद्धा का परिणामन भी ज्ञान में प्रगट वर्तता रहता है। जिसमें अपनत्व होता है उस ओर ही आत्मा के समस्त गुण अर्थात् आत्मा की परिणति झुकती हुई धारावाहिक कार्यशील रहती है। फलस्वरूप ज्ञायक अर्थात् सामान्य में अपनत्व के साथ वर्तने वाली परिणति, मोक्षमार्ग की धारा (श्रृंखला) प्रारंभ कर देती है। इसके विपरीत परज्ञेय और विशेष भेद पर्यायभेद-प्रदेशभेद-गुणभेद में अपनत्व के साथ वर्तने वाली परिणति, संसारमार्ग की धारा (श्रृंखला) चालू रखती है; इसलिये आत्मार्थी को जैसे बने वैसे यथार्थ मार्ग समझकर और अपनाकर, मोक्षमार्ग की श्रृंखला प्रारंभ करना चाहिये।

ज्ञानपर्याय में उपादेयता से हानि

प्रश्न – ज्ञान अपनी पर्याय को जानता है। ऐसी मान्यता ज्ञेय पदार्थों से अपनत्व तोड़ने के लिये तो उपयोगी होती है न?

उत्तर – नहीं, ऐसा मानना यथार्थ नहीं है; क्योंकि यह तो पर्यायदृष्टि है। परज्ञेयों से अपनत्व तोड़ने का उपाय तो द्रव्यदृष्टि है। पर्यायदृष्टि से पर्याय अथवा पर से एकत्व नहीं टूट सकता। द्रव्यदृष्टि का विषय तो 'सामान्य', प्रदेश भेदों से रहित 'अभेद' परस्पर अनुस्यूति से रचित धारावाहिक उत्पाद-व्यय का प्रवाह ऐसा 'नित्य', एवं

अनन्तगुणों का अखण्ड पिंड ऐसा 'एक', जो ज्ञायक ध्रुवभाव है, मात्र वह ही है; उसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद भी नहीं रहते इसलिए श्रद्धा ने, उसमें अपनत्व किया है; अतः आत्मा के समस्त गुण उस ओर झुक जाते हैं। ऐसी स्थिति में पर्यायार्थिकनय की विषयभूत, ज्ञेयाकारपरिणतज्ञानपर्याय तथा उसके निमित्तभूत ज्ञेयपदार्थ, सबका एकसाथ ही निषेध हो जाता है अर्थात् दोनों में परत्व आकर अपनत्व टूट जाता है। श्रद्धा ने जब ज्ञायक में अपनत्व कर लिया तो ज्ञेयमात्र में अपनत्व नहीं रहा, यही तो है परमें अपनत्व तोड़ना; क्योंकि श्रद्धा तो एक में ही अपनत्व करती है दो में नहीं। यह श्रद्धा जाग्रत हो जाने पर भी उसीसमय के ज्ञान में ज्ञेयाकार ज्ञान अथवा ज्ञेयपदार्थ भी ज्ञात होते रहते हैं; किन्तु परज्ञेय के रूप में।

उक्त मार्ग नहीं अपनाकर जो आत्मार्थी, ज्ञेय पदार्थों को पर मानकर उनसे एकत्व तोड़ने के लिये, ज्ञेयाकारपरिणतज्ञान की ओर अपने उपयोग को ले जाने की चेष्टा करते हैं; वे उक्त पर्याय को स्व मान लेते हैं, तभी तो उपयोग उसकी ओर ले जाने की चेष्टा करते हैं। इसप्रकार वे पर्याय दृष्टि ही बने रहते हैं। क्योंकि सम्यक्श्रद्धा का विषय तो होता है स्व सामान्य; इसलिये द्रव्यदृष्टि का विषय ही अपनत्व करने योग्य है। उक्त श्रद्धा प्रगट होने पर भी ज्ञान में अनेक ज्ञेय ज्ञात होंगे; किन्तु वे अपना मानने के लिये नहीं; अपितु पर मानने के लिये होते हैं।

जाननक्रिया समझने की उपयोगिता

प्रश्न – उक्त श्रद्धा के उत्पादन में, जानने की उक्त प्रक्रिया समझने की उपयोगिता किस प्रकार है?

उत्तर – वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझने की उपयोगिता तो असंदिग्ध है; परन्तु उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिये। ज्ञेयाकारज्ञान

के परिणामन द्वारा जानने की प्रक्रिया समझने का उद्देश्य तो ज्ञान का ज्ञेय से निरपेक्ष रहते हुए, अपनी योग्यता द्वारा जानने रूप परिणामन करने का स्वभाव समझने का है। साथ ही जानन क्रिया का निमित्त जो ज्ञेय, उसका भी परिणामन, ज्ञान की अपेक्षा रखे बिना, अपनी योग्यता से अपने नियतकाल में परिणामन करते रहने का स्वभाव है ऐसा समझना उद्देश्य है। यह ज्ञेय और ज्ञान के परिणामन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में न तो ज्ञान को जानने में ज्ञेय की पराधीनता है और न ज्ञेय को ज्ञान का ज्ञेय बनने की पराधीनता है दोनों के परिणामन अपने-अपने में अपनी-अपनी योग्यतानुसार होते रहते हैं। ऐसी श्रद्धा का फल यह होता है कि ज्ञेय पदार्थों अर्थात् पर में कर्तृत्वबुद्धि की मान्यता ढीली पड़कर, परिणति पर की ओर से सिमट कर अपने आत्मद्रव्य में मर्यादित हो जाती है। पर में कर्तृत्व के उछाले ढीले पड़ जाते हैं। फलस्वरूप ज्ञायक में अपनत्व करने का अवकाश हो जाता है; क्योंकि जिन परज्ञेयों को मैं अपना मानता था, उनसे तो मेरा जानने का भी सम्बन्ध नहीं रहता, तब उनमें कुछ भी करने धरने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनके तो परिणामन भी स्वतंत्र हो रहे हैं। ऐसे पदार्थों (ज्ञेयों) को अपना मानना तो प्रत्यक्ष रूप से मिथ्या है। ऐसी श्रद्धा होने पर परिणति का झुकाव अपनी ओर हो जाता है, रुचि सब ओर से सिमटकर आत्मसन्मुख हो जाती है, वीर्य भी उस ओर ही कार्य करने लगता है। यह है उपयोगिता उक्त प्रक्रिया को समझने की। पर से अर्थात् ज्ञेयों से एकत्व बुद्धि तो द्रव्यदृष्टि प्रगट होने पर ही टूटेगी; मात्र उक्त प्रक्रिया को समझने से नहीं।

अनाकुल आनन्द की प्रगटता का उपाय

जबतक श्रद्धा की पर में अपनेपने की मान्यता रहती है, तबतक ज्ञान भी इन्द्रियों के आधीन होकर प्रवर्तता है। श्रद्धा का स्व अर्थात् ज्ञायक में अपनत्व होते ही ज्ञान भी आत्मसन्मुख होकर प्रवर्तने लगता है, वही ज्ञान, श्रद्धा के बलपूर्वक क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अतीन्द्रियता को प्राप्त होकर निर्विकल्प होता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है; इसलिये सर्वप्रथम ज्ञान में, स्व में अपनत्वपूर्वक करने का तत्पश्चात् अनाकुल सुख प्रगट करने का उपाय समझना चाहिये।

आत्मा का मूल स्वभाव एवं जाननक्रिया

स्व अर्थात् ज्ञायक में अपनत्व करने के लिये आवश्यक है कि आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव एवं वर्तमान के स्वभाव को समझा जावे, आत्मा “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्” स्वभाव धारक एक पदार्थ है, प्रत्येक समय ध्रुव बने रहकर उत्पाद-व्ययरूप परिणामन करते रहना उसका स्वभाव है। चेतना अर्थात् जीवत्व नाम का भाव उसका मूलभूत भाव है। उसके पहिचानने का लक्षण ज्ञान है। समयसार गाथा-२ की टीका में कहा है कि जानना और परिणामना दोनों क्रियाएँ एकत्वपूर्वक करे वह समय अर्थात् आत्मा का स्वभाव है तदनुसार प्रत्येक आत्मा जानते हुये ही परिणामता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का जाननस्वभाव मूलभूत स्वभाव है और वह ध्रुव रहता है; किन्तु प्रतिसमय वह जाननरूप परिणामन भी करता है अर्थात् पर्याय भी जाननेरूप कार्य करती है - इसप्रकार आत्मा त्रिकाल ध्रुव रहनेवाला ज्ञायक है और उत्पाद-व्ययरूप परिणामन करनेवाला भी ज्ञायक अर्थात् ज्ञान है। यहाँ ज्ञायक से तात्पर्य मात्र ज्ञान गुण का परिणामन नहीं होकर चित्स्वभाव है। चेतना में दर्शन एवं ज्ञान स्वभाव दोनों आ जाते हैं। चेतन वस्तु सामान्य विशेषात्मक हैं, सामान्य

होता है अभेद और विशेष होता है भेद आदि अनेक। कथन ज्ञान की प्रधानता से किया जाता है। जीवत्वभाव पारिणामिकभाव होने से प्रत्येक जीव में अनादि-अनन्त धारावाहिक रहता है। वह कभी तिरोभूत नहीं होता।

ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक स्वभावी होने से प्रत्येक समय स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। स्व में तो स्व के द्रव्य-गुण-पर्यायों को एवं पर में पर के अर्थात् छहों द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानता है; लेकिन जानना उतना ही होता है जितना और जिसको जानने की उसकी प्रगट हुई योग्यता होती है; केवली भगवान की ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य पूर्ण प्रगट हो जाने से, उनकी पर्याय में तो लोकालोक का ज्ञान एक साथ प्रगट रहता है छहढाला में कहा भी है - **“सकल द्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता, जाने एकै काल प्रगट केवलि भगवन्ता।”** लेकिन छद्मस्थ जीवों का ज्ञान क्षायोपशमिक होता है वह अपनी प्राप्त पर्याय की शक्ति अर्थात् योग्यता की प्रगटता के अनुसार स्व-पर को जानता है। जैसे एकेन्द्रिय जीव अपनी पर्याय की अति अल्प प्रगट हुई योग्यता जितना ही जानता है और पांच इन्द्रिय धारक सैनी जीव अपनी विशेष विकसित प्रगट पर्याय के अनुसार स्व-पर को जानता है। तात्पर्य यह है कि स्व-पर को जाननेरूप कार्य तो प्रत्येक जीव का प्रतिसमय होता ही रहता है ऐसे जाननस्वभाव को न्यून-अधिक जानने के भेद को गौण करके देखें तो निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान तक के सभी आत्मा एक समान ध्रुव रूप से भी और पर्याय से भी ज्ञायक ही हैं अर्थात् त्रिकाल ज्ञायक है।

यह जाननेरूप परिणमन आत्मा की ज्ञानपर्याय है; क्योंकि पर्याय द्रव्यबिना होती नहीं और सत् दोनों का एक है, प्रदेश भी एक ही है; इसलिये स्व एवं पर के ज्ञानरूप परिणमन वह आत्मद्रव्य की पर्याय है

अर्थात् ज्ञानपर्याय का उत्पाद ही ज्ञेय के आकार का होता है - ऐसा ज्ञान का आकार ज्ञेय से निरपेक्ष रहते हुये ज्ञान की उपादान सामग्री अर्थात् प्रगट पर्याय की योग्यता से, उसके नियत काल में, उसकी स्वयं की शक्ति-सामर्थ्य से, आत्मा में होता है - ऐसा प्रत्येक आत्मा की ज्ञानपर्याय का स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा की ज्ञानपर्याय, ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुये अपनी प्रगट सामर्थ्य के अनुसार अपने प्रदेशों में रहते हुये ही, स्वद्रव्य एवं उसके गुण-पर्यायों तथा पर द्रव्यों एवं उनके गुण-पर्यायों के आकाररूप स्वयं परिणमती है। पर्याय में ज्ञेयों का ज्ञान वर्तने में न तो ज्ञान ज्ञेय तक जाता है और न ज्ञेय ही ज्ञान तक आता है तथा ज्ञेय के गुण-दोष भी ज्ञान में नहीं आते। इन कारणों से भी ज्ञान की ज्ञेय से निरपेक्षता ही सिद्ध होती है। सारांश यह है कि ज्ञेय, समीपवर्ती स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा तो दूरवर्ती पर एवं उनके द्रव्य-गुण-पर्याय हो; जानने की प्रक्रिया तो आत्मा के प्रदेशों में रहते हुये सबकी समानरूप से होती हैं। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा की ज्ञान पर्याय धारावाहिक अनादि-अनन्त अनवरत रूप से चलती रहती है। कभी व्यवधान नहीं पड़ता। उक्त समस्त चर्चा से स्पष्ट है कि उक्त ज्ञानपर्याय स्वज्ञेय हो अथवा परज्ञेय हों, उनमें कौनसी पर्याय किस ज्ञेय के आकार किस समय परिणमित होगी यह भी सुनिश्चित रहता है और उसका धारावाहिक परिणमन क्रमबद्धरूप से चलता रहता है, ऐसी स्थिति में अज्ञानी का पर में कर्तृत्व का अभिप्राय तो आधारहीन सिद्ध होकर निरस्त हो जाता है और आत्मा का ज्ञायकस्वभाव एवं अकर्तृत्व स्वभाव सिद्ध हो जाता है। साथ में यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान को जानने के लिये ज्ञेय के सन्मुख भी नहीं होना पड़ता; फलतः ज्ञान को इन्द्रियों की पराधीनता भी नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि ऐसी श्रद्धा से ज्ञान अतीन्द्रियता प्राप्त करने की पात्रता प्रगट कर लेता है।

ज्ञान क्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है; क्योंकि आत्मा का जाननस्वभाव है। उसका जाननस्वभाव कभी विपरीत नहीं होता, अशुद्ध नहीं होता अर्थात् जानने के विपरीत, नहीं जानना नहीं होता तथा अशुद्ध को जानने से अशुद्ध नहीं होता। जानने के विषयों को कम जानना, यह तो ज्ञान की मंदता है न कि अशुद्धि, यह तो जाननेवाली पर्याय की सामर्थ्य की कमी के तारतम्यता की सूचक है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाले मोह-रागादि भावों के जानने के समय भी ज्ञान विकृत नहीं हो जाता; वह तो उन भावों को भी उनसे निरपेक्ष रहकर उनको मात्र जान लेता है। मोह-रागादि भावों के उत्पादक तो श्रद्धा एवं चारित्र गुण के विपरीत परिणामन है; आत्मा के प्रदेशों में उत्पन्न होते हुये भी वे ज्ञान नहीं है, भावभेद होने के कारण वे पर हैं - परज्ञेय हैं; उनमें अतद्भावरूप भिन्नता है; इसलिये ज्ञान तो उसका भी तटस्थ ज्ञाता है, ज्ञान का स्वज्ञेय तो उसका स्वामी ऐसा एकमात्र ज्ञायक ध्रुव भाव है, जो अनन्त गुणों का अखण्ड पिंड ऐसा सामान्य-अभेद-नित्य और एक स्वभावी ध्रुव तत्त्व है, बाकी सब पर हैं, ऐसी श्रद्धा होने से परिणति सब ओर से सिमटकर ज्ञायक में एकत्व करने के लिये तत्पर हो जाती है ज्ञान भी अतीन्द्रियता प्राप्त करने की पात्रता उत्पन्न कर लेता है।

प्रश्न - ज्ञान की ज्ञेयाकार परिणामन ही ज्ञानपर्याय है, आत्मा उसी को जानता है; इसमें तो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भी निषेध हो जाता है ? परज्ञेयों के जानने का भी निषेध हो जावेगा ?

उत्तर - भाई ! ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो वस्तु का स्वभाव है, उसका तो किसीप्रकार से अभाव हो ही नहीं सकता। आत्मा का जानना स्वभाव है तो वह जिसको भी जानेगा वह ही तो ज्ञेय है; अतः उसके निषेध से तो ज्ञान का भी निषेध हो जावेगा और ज्ञेय

की स्थापना तो ज्ञेयाकार कहने से ही हो जाती है, निषेध कैसे हो जाता है ? किन्तु स्थापना होती है निमित्त के रूप में, उपादानरूप में नहीं। निमित्त और नैमित्तिक का समकाल होने से उसका किसी भी प्रकार से निषेध हो ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञान के जाननेरूप कार्य की संपन्नता, पाँच समवायपूर्वक ही होती है। प्रत्येक कथन की अपेक्षा समझनी चाहिये। उपादान कारण की मुख्यता से किये गये कथन में निमित्त तो गौण ही रहेगा। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो प्रत्येक जीव, सिद्ध तक को अनवरतरूप से रहता ही है।

परज्ञेयों के जानने का अभाव तो कहीं भी नहीं होता। केवली भगवान को स्व में तन्मयता पूर्वक पर का जानना होता है और अज्ञानी को तो मात्र पर का ही जानना होता है; किन्तु अपनत्वपूर्वक होता है। ज्ञानी को भी पर का जानना होता है; किन्तु अपनत्व रहित होता है; परन्तु जीवमात्र को पर का जानना तो हुए बिना रहता नहीं; इसलिये पर के जानने का निषेध तो हो ही नहीं सकता। समयसार गाथा २७० की टीका में तो धर्मद्रव्य आदि पर को अपनत्व पूर्वक जानने का निषेध किया गया है, न कि जानने का निषेध किया है; अतः ऐसी शंका निर्मूल है।

प्रश्न - ज्ञेयाकार ज्ञान में स्व-पर का विभाजन कैसे रहेगा ?

उत्तर - सकल विश्व ही स्व-पर में विभाजित है, प्रत्येक वस्तु अपने लिये तो स्व है और अन्य वस्तुएँ उसके लिये पर हो जाती हैं करना नहीं पड़ता। ज्ञान तो मात्र जो जैसा है वैसा जान लेता है। ज्ञान का कार्य विभाजन करना नहीं है, मात्र जानना है; स्व-पर प्रकाशक तो ज्ञेयों में द्वैत होने से उनके भेदों के प्रकाशन की अपेक्षा है। स्व को जानने वाला ज्ञान अलग हो और पर

को जाननेवाला अलग हो – ऐसा नहीं है; वह तो मात्र जानता ही है; लेकिन जिन को जानता है वे स्व-पर में विभाजित हैं और उन सब का प्रकाशन ज्ञान में होता है; क्योंकि आत्मा में प्रकाश नाम की शक्ति है, उस शक्ति का कार्य है आत्मा के गुणों का संवेदन आत्मा को होना। ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। पर में प्रकाशन करना ज्ञान का कार्य नहीं है। अन्य को तो वचनों द्वारा जानकारी होती है, अतः अन्य को वह जानकारी प्राप्त होने में तो वे शब्द वर्गणाएँ निमित्त होती हैं, न कि आत्मा का ज्ञान।

ज्ञान का विषय तो द्रव्य-गुण-पर्याय सहित पूरा पदार्थ होता है, स्व में तो अपना आत्मद्रव्य पूरा पदार्थ होता है और पर में, जो भी ज्ञेय बनते हैं वे भी पूरे पदार्थ होते हैं। ज्ञान पूर्ण प्रगट हो जाने पर तो स्व एवं पर समस्त पदार्थ उनके गुण-पर्यायों सहित ज्ञात हो जाते हैं। छहढाला में कहा है – “सकल द्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता, जानै एकै काल प्रगट केवलि भगवन्ता।” छद्मस्थ का ज्ञान भी अपनी योग्यतानुसार जिन ज्ञेयों को जानता है, वह भी पूरे पदार्थ को विषय बनाता है; लेकिन साथ में वर्तनेवाला श्रद्धा गुण उन पदार्थों में से मात्र एक को ही स्व मानता है; क्योंकि उसका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक अर्थात् द्वैत नहीं है; ज्ञान दोनों को उसी समय जानता है; लेकिन श्रद्धा ने जिसमें अपनत्व किया उसको स्व के रूप में जानता है तथा अन्य सब पर के रूप में रह जाते हैं। यह ज्ञान का कार्य रहता है। इसप्रकार से भी ज्ञान में स्व-पर का विभाजन होता है।

आत्मा में एक स्व-स्वामित्व सम्बन्ध नाम की शक्ति है। (अपना भाव, स्वभाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है -

ऐसे सम्बन्धमयी सम्बन्धशक्ति) इस शक्ति के कारण आत्मा के अनन्त गुणों का स्वामी आत्मा है। ज्ञान का स्वामी भी आत्मा है और श्रद्धा का स्वामी भी आत्मा है। श्रद्धा का कार्य है अपना मानना। इसप्रकार आत्मा का स्वभाव स्व को ही स्व मानना है और ज्ञान का स्वभाव भी स्व को स्व जानना है। पर को स्व मानना एवं पर को स्व जानना विभाव है। स्वभाव तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी सब की आत्माओं का समान रहता है। अज्ञानी ने स्वभाव से विपरीत पर को स्व मान रखा है, यह उसकी मान्यता की भूल है, विपरीतता है; लेकिन उसके मानने से स्वभाव तो नहीं बदल जाता; इसलिये वस्तु तो जैसी की तैसी ही बनी रहती है, मान्यता तो पर्याय में होती है, पर्याय उत्पाद-व्ययस्वभावी होने से वह प्रतिसमय बदलती रहती है; इसलिये अज्ञानी जब भी यथार्थ समझ के द्वारा अपनी मान्यता बदलने का पुरुषार्थ करे तो मिथ्यामान्यता का अभाव करके, सम्यक् मान्यता प्रगट करके स्वयं ज्ञानी बन सकता है; इसलिये मोक्षमार्ग सरल है, कठिन नहीं।

ज्ञानी की दृष्टि सम्यक् हो जाने से उसको सभी कार्य यथार्थ भासने लगते हैं। व्युत्पन्न अज्ञानी को भी प्राथमिक दशा में ज्ञान के जानने की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा स्व तो हो जाता है प्रमाणरूप अपना आत्मद्रव्य और बाकी रहे प्रमाणरूप छहों द्रव्य हो जाते हैं पर, इसप्रकार के विभाजन में सारे विश्व से भेदज्ञान होकर अपनापन मात्र अपने द्रव्य में सीमित हो जाता है; ऐसी महान उपलब्धि होती है इस प्रक्रिया की। ध्यान रहे ऐसी भेदज्ञान की प्रक्रिया भी ज्ञान को पदार्थों के सन्मुख होकर नहीं होती; अपितु ज्ञान के सन्मुख रहते हुए होती है; क्योंकि ज्ञान के सन्मुख पदार्थ तो होते नहीं, ज्ञान ही उनके आकार होकर वह ज्ञान ही ज्ञात होता है पदार्थ नहीं होते। उन आकारों में ही

अपनी मान्यता के अनुसार ज्ञान स्व-पर के भेद करके भेदज्ञान उत्पन्न कर, अपना प्रयोजन साधता है। श्रद्धा का पृष्ठबल ज्ञान को होता है तो ही भेदज्ञान होकर ज्ञान की खोज चालू रहती है, अन्यथा मात्र विकल्प होकर रह जाते हैं। उक्त प्रक्रिया का यथार्थ लाभ यह होता है कि आत्मप्रदेशों में जिसकी सत्ता नहीं है - ऐसे स्त्री-पुत्रादि सचेतन परिकर एवं मकान-धन आदि अचेतन परिकर तथा शरीर आदि समस्त नोकर्म तथा समस्त प्रकार के द्रव्यकर्म से अपनत्व टूटकर सबमें परत्व की श्रद्धा जागृत हो जाती है - ऐसा होने पर भी ज्ञान में तो वे सब पूर्ववत् ज्ञात होते रहते हैं; किन्तु मात्र उनका स्वामित्व दूट जाता है, परत्व आ जाता है। उक्त प्रकार का अन्तर ज्ञान के जानने में पड़ना अनिवार्य नहीं है। श्रद्धा जब ज्ञायक में स्वामित्व कर लेती है तो सहज ही पर में स्वामित्व नहीं रहता, छूट जाता है; छोड़ने की कोई अलग प्रक्रिया नहीं होती, इस प्रक्रिया से जानने के कार्य में अन्तर पड़ना अनिवार्य नहीं होता, वह तो स्व को स्व तथा पर को पर जानता रहता है।

रुचि के पृष्ठबल सहित जब उसका ज्ञान प्रमाणरूप अपने द्रव्य में ज्ञायक की खोज करने के लिये प्रवेश करता है तो उसे सम्यक्श्रद्धा का विषय जो ज्ञायक वह नहीं मिलता; क्योंकि श्रद्धा का विषय तो अद्वैत समस्त भेदादिक से रहित एक होता है और प्रमाणरूप द्रव्य तो गुण भेदों-पर्यायभेदों की अनेकताओं में भरा अनुभव में आता है। श्रद्धा उनमें से किसमें अपनत्व करे।

ऐसी स्थिति में जिस आत्मार्थी को स्वरूप प्राप्त करने की लगन लगी हो अर्थात् तीव्र रुचि जाग्रत हुई हो तो वह सत्यार्थ मार्ग प्रदाता जिनवाणी का यथार्थ दृष्टि द्वारा अध्ययन करके अथवा वीतरागी गुरु के उपदेश से और सत्समागम के द्वारा अपने आत्मद्रव्य का सम्यक् अध्ययन करता है और अपनी श्रद्धा अर्थात् दृष्टि के विषय

को खोजता है। खोजने के लिये वह अपने द्रव्य को दो भागों में विभक्त कर लेता है, एक तो अद्वैत ऐसा सामान्य भाव जो अभेद है, नित्य है और एक है और दूसरी ओर समस्त विशेष भाव जिनमें प्रत्येक समयवर्तीपरिणमनकी अनित्यता के काल भेद और असंख्य प्रदेशों के प्रदेश भेद तथा अनन्त गुणों के गुणभेद हैं। इसप्रकार अनेकता और भेदों की भरमार है। श्रद्धा का विषय तो मात्र अद्वैत होता है, क्योंकि श्रद्धा स्वयं निर्विकल्प होती है, उसका स्वभाव स्व-परप्रकाशक नहीं है। उसका स्वभाव तो मात्र स्व मानना अर्थात् अपनत्व करना है। और अपनत्व तो मात्र एक में ही अर्थात् अद्वैत में ही होता है। इसलिये श्रद्धा का विषय तो मात्र सामान्य ही होता है, विशेष नहीं। सामान्य सहित विशेष तो ज्ञान के विषय होते हैं; क्योंकि वह स्व-पर प्रकाशक है। जिसमें श्रद्धा ने अपनत्व किया हो, ज्ञान उस ही को स्व के रूप में जानता है, अन्य सब सहज ही पर के रूप में रह जाते हैं; इसप्रकार सहजरूप से ज्ञान में स्व-पर का विभाजन रहता है। श्रद्धा में तो मात्र स्व ही रहता है, उसमें तो पर का अस्तित्व ही नहीं होता; इसलिये श्रद्धा तो स्वद्रव्य के सामान्य भाव में ही अपनत्व करती है, विशेष में नहीं। इसीकारण उसके विषय में भी तारतम्यता नहीं पड़ती। सम्यक्श्रद्धा तो पर को अपना मानना छोड़कर आत्मद्रव्य के विशेषों का उल्लंघन करती हुई सीधी स्व के सामान्य भाव में अपनत्व करती है, बीच में कोई तारतम्यता नहीं पड़ती, इसी अपेक्षा सम्यक्त्व प्रगट होने के पूर्व करणलब्धि के अंतिम समय तक आत्मा को मिथ्यात्वी कहा है; क्योंकि जबतक अपने सामान्य में अपनत्व स्थापित नहीं होता, तबतक मिथ्यात्व

रहता है और स्व सामान्य में अपनत्व होते ही, सर्वगुण सम्यक्ता को प्राप्त होकर उसमें आंशिक एकत्व कर लेते हैं, ज्ञान निर्विकल्प होकर स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है और आनन्द का अनुभव कर लेता है।

उक्त स्थिति में भी आत्मद्रव्य के विशेषभाव ज्ञान में ज्ञात होते रहते हैं, उनके ज्ञान में रहने से भी श्रद्धा का अपनत्व सामान्य ऐसे ज्ञायक में बना रहता है; उसका विषय तो ज्ञान के विषयों से निरपेक्ष एक ज्ञायक ही रहता है, निर्विकल्प आत्मानुभूति के काल में तो ज्ञान में भी उक्त विषय गौण रहते हैं, उपयोगात्मक तो एक ज्ञायक ही रहता है; लेकिन सविकल्पदशा में विशेष आदि का ज्ञान उपयोगात्मक वर्तते हुए भी श्रद्धा के विषय में अपनत्व-स्वामित्व तो निर्विकल्प दशा के समय जैसा था वैसा ही बना रहता है। सविकल्प होने से उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं आती; लेकिन स्वरूपाचरण प्रगट हो जाने से अनन्त गुणों का आंशिक अनुभव तो सविकल्प दशा में भी वर्तता रहता है। अनन्त गुणों में ज्ञान और आनन्द भी होते हैं; फलतः सविकल्पदशा में भी ज्ञायक का ज्ञान एवं आनन्द का आंशिक वेदन अनवरत रूप से वर्तता है। इसी कारण उसका पर में एकत्व नहीं होता, सहज रूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है।

अभेद परिणमन में श्रद्धा-ज्ञान का कार्य भिन्न कैसे?

प्रश्न : ज्ञान में तो अनन्तगुणों के कार्य अभेद होने से मिश्र हो जाते हैं और वेदन भी एक ही होता है; ऐसी स्थिति में ज्ञान और

श्रद्धा का कार्य भिन्न-भिन्न कैसे वर्त सकेगा?

उत्तर : अनन्तगुणों के प्रदेश और आत्मा के प्रदेश भिन्न नहीं है, दोनों का अस्तित्व एक ही प्रदेशों में होने से प्रदेश भिन्नता नहीं है; लेकिन अतद्भाव रूप भिन्नता तो वर्तती है, अन्यथा गुणों की अनन्तता ही समाप्त हो जावेगी और जब गुणों में अतद्भावरूप भिन्नता है तो पर्यायों में भी भिन्नता वर्तना अवश्यभावी है। परिणमन तो द्रव्य का होता है, गुणों के और द्रव्य के प्रदेश जब एक ही हैं तो परिणमन भी अभेद से एक ही होता है; लेकिन गुणों में अतद्भाव होने से उनके परिणमन में भिन्नता वर्तती है अर्थात् एक गुण का स्वभाव, दूसरे गुण के स्वभाव रूप नहीं हो जाता; फलतः प्रत्येक समय के परिणमन में प्रत्येक गुण का कार्य भी दूसरे गुण के कार्य से निरपेक्ष रहते हुए स्वतंत्र वर्तता रहता है; किसी का कार्य दूसरे गुणों के कार्य जैसा नहीं हो जाता - ऐसी स्वतंत्रता प्रत्येक परिणमन की है। प्रदेश एक रहते हुए भी कार्य भिन्न-भिन्न होते रहते हैं। ऐसा प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

ज्ञान का स्वभाव तो, वस्तु जैसी है, उसको वैसा ही जानने का है। किसी को घटाने-बढ़ाने अथवा किसी में मिश्र करने का नहीं है। ज्ञान तो दर्पण के समान है, जो तटस्थ रहते हुए बिम्ब जैसा सामने हो, उसका प्रतिबिम्ब प्रकाशित कर देता है; उसीप्रकार ज्ञान की प्रगट पर्याय की तत्समय की योग्यता जिस ज्ञेय को जानने की होती है। उस समय उसी के अनुकूल ज्ञेय वर्तता होता है, दोनों की एक काल प्रत्यासत्ति है; इसलिये आत्मा के तत्कालीन परिणमन में जिस-जिस गुण का परिणमन जैसा वर्तता होता है, तत्समय का ज्ञान भी अपनी स्वयं की योग्यता से उन ज्ञेयों के आकाररूप से ज्ञात होने लगता है, ज्ञान अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन

नहीं करता। और वेदन भी सब गुणों के कार्यों का अभेद एक ही होता है। ऐसी स्थिति में जिसमें श्रद्धा ने अपनत्व एवं स्वामित्व माना होगा तो ज्ञान भी उसको ही अपने रूप जानेगा तथा आकुलता अथवा अनाकुलतारूप जैसा परिणमन होना होगा वैसा जानेगा। इसप्रकार श्रद्धा का कार्य और ज्ञान का कार्य तो भिन्न-भिन्न ही वर्तता है। मिश्र होकर एक नहीं हो जाता; लेकिन सबका प्रकाशन ज्ञान द्वारा ही होता है; इसलिये अज्ञानी को भेदज्ञान दृष्टि का उदय नहीं होने से और यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होने से, अपने विकारी भावों को ही स्व मानकर किंकर्तव्य विमूढ़ होकर अज्ञानी बना रहता है। इसके विपरीत ज्ञानी को वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होने से उसको सबके परिणमन भिन्न-भिन्न ज्ञात होने से वह भ्रमित नहीं होता और अपना अपनत्व ज्ञायकभाव में अक्षुण्ण रखते हुए प्रगट हुए अन्य भावों से सहज रूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है। फलस्वरूप उसको मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ भी सहज वर्तता रहता है।

श्रद्धा सामान्य में अपनत्व करती है

प्रश्न – जब ज्ञान और भावकर्म एकसाथ प्रगट रहते हैं तो ज्ञान भेदज्ञान कैसे करेगा ?

उत्तर – आत्मा के अनन्तगुणों का परिणमन एकसाथ होते हुए भी, उनमें वर्तनेवाले सब गुण अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते, उस परिणमन में सबका कार्य अपना-अपना परिणमता रहता है; क्षेत्र अपेक्षा सबका क्षेत्र एक है; परन्तु कार्य सबके अलग-अलग वर्तते हैं। वस्तुस्वरूप ही ऐसा आश्चर्यकारी है; इसलिए मिश्र परिणमन होते हुए भी ज्ञान तो भावकर्मों से अछूता रहते हुए उनको भी जानता है; इसी कारण भावकर्म की अशुद्धि उसको

स्पर्श भी नहीं कर पाती।

आत्मा के श्रद्धा एवं चारित्र गुणों के परिणमन की ऐसी योग्यता है कि स्वभाव के विपरीत परिणम सकते हैं; किन्तु ज्ञान तो अनवरतरूप से मात्र जाननेरूप ही परिणमता है; जानने के विपरीत अजानपनेरूप नहीं परिणमता; न्यूनाधिक जानना विपरीतता नहीं हैं; फिर भी जाननक्रिया एवं भावकर्म दोनों परिणमन एकसाथ चलते रहते हैं।

उक्त स्थिति वर्तते हुए भी ज्ञानी का स्वामित्व सामान्य स्वभाव ऐसे ज्ञायक में होने से, उसका ज्ञान भी ज्ञायक को तो स्व जानता हुआ एवं अन्य जो कुछ भी ज्ञात होता है उनको पर जानता हुआ उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की श्रद्धा ज्ञायक में स्वामित्व करती हुई और ज्ञान, ज्ञायक को स्वज्ञेय के रूप में और अन्य सबको परज्ञेय जानते हुए दोनों एकसाथ वर्तते रहते हैं; यह सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसप्रकार उसके ज्ञान में प्रतिसमय सहजरूप से स्व-पर विवेक वर्तता रहता है अर्थात् भेदज्ञान वर्तता रहता है। कोई अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। रुचि अनुयायी वीर्य के अनुसार, ज्ञायक में अपनत्व होने से रुचि भी उसी की ओर रहती है; इसप्रकार भेदज्ञान की प्रक्रिया सहज वर्तती रहती है।

अज्ञानी की श्रद्धा में ज्ञान में ज्ञायक तो आया नहीं और पर में अपनत्व की श्रद्धा, श्रृंखलाबद्ध अनादि से चली आ रही है; अतः ज्ञान भी तदनुसार जानता हुआ उत्पन्न होता है। इसलिए भावकर्म ज्ञात होते हुए ही अज्ञानी उसी में स्वामित्व कर लेता है। फलतः वह स्वयं को ही मोही-रागी-द्वेषी मान लेता है। उनका संयोग अपने में कर लेता है, इसलिए ऐसे भावों को संयोगीभाव भी कहा जाता है। ऐसे जीव को भेदज्ञान के विपरीत भावकर्म के साथ अभेद

ज्ञान वर्तता है। इसीकारण ऐसा आत्मा अपने को मोही-रागी-द्वेषी आदि मानता है और ऐसा माननेरूप परिणमन, उसको सहज हो जाता है।

उक्त चर्चा से स्पष्ट है कि भेदज्ञान के विकल्प करने से ज्ञायक में अपनत्व नहीं हो सकता और ज्ञायक में अपनत्व हुए बिना अन्य ज्ञेयों में परपना उत्पन्न नहीं हो सकता; ऐसी स्थिति में भेदज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा का स्वरूप समझकर आत्मा के सामान्य भाव ऐसे ज्ञायक में अपनत्व स्थापन करने पर, भेदज्ञान तो सहज ही वर्तने लगता है। समयसार गाथा १५ की टीका में भी इसीप्रकार कहा है।

“इसप्रकार अनेकप्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान (आत्मद्रव्य), वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों को स्वाद में आता है; किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान (आत्मद्रव्य) स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सेंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करे केवल सेंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एकक्षाररक्षत्व के कारण क्षार रूप से स्वाद में आती है; उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।”

उक्त टीका से स्पष्ट है कि ज्ञानी-अज्ञानी सबके ज्ञान में सामान्य-विशेष अथवा स्व-पर सबके ज्ञेयाकार तो एक साथ रहते हैं; किन्तु ज्ञानी का एकत्व सामान्य में होने से उसका ज्ञान उस ओर झुक जाता है, उसके विपरीत ज्ञेयलुब्ध अर्थात् ज्ञेयों में स्वामित्व रखनेवाले अज्ञानी का ज्ञानविशेषों अर्थात् ज्ञेयों की ओर झुक जाता है। जिस ओर झुकता है, उसी का ज्ञान होता हुआ अनुभव-स्वाद आता है। उससमय अन्य पक्ष ज्ञान में विद्यमान रहते हुए भी सहजरूप से गौण रह जाते हैं, करना नहीं पड़ते।

उक्त चर्चा से स्पष्ट है कि जिसमें अपनत्व होता है उस ओर की रुचि होने से ज्ञान उस ओर झुका रहता है और अन्य ज्ञेय का ज्ञान हो तो उनमें परत्वबुद्धि रखने के लिए पुरुषार्थ जाग्रत रखना पड़ता है। सविकल्प दशा में ऐसी दशा वर्तने पर, उसे भेदज्ञान कहा जाता है। वास्तव में प्रज्ञाछैनी पटकने की सूक्ष्म संधि भी यही है; सामान्य-विशेष के बीच में जब प्रज्ञाछैनी पड़ती है तो ज्ञायक में अपनत्वपूर्वक ज्ञान भी निर्विकल्प होकर आत्मा का साक्षात्कार कर आत्मानन्द का आंशिक स्वाद चख लेता है। ध्यान रहे कि जिसमें स्वामित्व होता है, उसी में एकत्व-ममत्व भी होता है और उसी के परिणमन का वह कर्ता-भोक्ता भी होता है। इसप्रकार ज्ञानी का ज्ञायक में स्वामित्व होने से उसका उसी में एकत्व वर्तता है और तज्जन्य निर्मल पर्यायों का वह कर्ता-भोक्ता भी रहता है। अज्ञानी को ज्ञेयों एवं अज्ञानजन्य विकारी पर्यायों में एकत्व-ममत्व रहता है; इसलिए वह उनका कर्ता-भोक्ता रहता है। इसी उद्देश्य से अज्ञानी को पर का एकत्व एवं कर्तृत्व आदि छुड़ाने का उपदेश दिया जाता है।

ज्ञानधारा एवं कर्मधारा

प्रश्न – ज्ञानी का परज्ञेयों में अपनत्व नहीं होने पर भी उनके प्रति आकर्षण तो वर्तता है, इसी से उपयोग भी बार-बार उनकी ओर जाता है। ऐसी स्थिति में उनका आकर्षण तोड़ने के लिए भेदज्ञान का अभ्यास वर्तना तो अवश्यंभावी है ?

उत्तर – ज्ञानी को सहजरूप से दो धाराएँ वर्तने लगती हैं। एक तो सामान्य ऐसे ज्ञायक में स्वामित्व पूर्वक वर्तनेवाली ज्ञानधारा और दूसरी विशेष अर्थात् भावकर्म आदि ज्ञेयों में परत्वपूर्वक वर्तनेवाली कर्मधारा, ज्ञान दोनों धाराओं को जानता हुआ वर्तता रहता है; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्व-पर दोनों को जानने का है इतना विशेष है कि ज्ञान दोनों से अछूता रहते हुए जानता रहता है। किसी में नहीं मिल जाता। तटस्थ रहते हुए जानता है। ज्ञान की ऐसी धारा अनवरतरूप से चलती रहती है। साथ ही श्रद्धागुण के परिणमन की धारा भी अनवरतरूप से ज्ञायक में अपनत्वपूर्वक की चलती रहती है।

ज्ञानी का ज्ञान सम्यक् होता है, उसको वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान अक्षुण्ण रूप से वर्तता रहता है। प्रत्येक वस्तु 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' है। अनादि-अनन्त ध्रुव रहते हुए भी परिणमन करती हैं; इसीप्रकार उनकी सत्ता अनादि-अनन्त वर्तती रहती है। उनके प्रत्येक परिणमन पाँच समवायपूर्वक उनके उत्पत्ति के नियत काल में, अपनी पर्यायगत योग्यता के अनुसार, निश्चित निमित्त की उपस्थिति में अपनी स्वयं की सामर्थ्य से अनादि-अनन्त उनमें ही होते रहते हैं, कभी व्यवधान नहीं पड़ता और न कभी अन्यप्रकार से परिणमते हैं। ऐसे प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को

ही क्रमबद्ध परिणमन कहते हैं। ऐसा परिणमन स्वद्रव्य का भी होता है एवं परद्रव्यों का भी होता है। अपने आत्मा के अनन्तगुणों के परिणमन भी ज्ञान के लिए तो ज्ञेय ही हैं। जिसतरह अन्य द्रव्य ज्ञान के लिए ज्ञेय हैं; उसीप्रकार आत्मा के गुणों के परिणमन भी ज्ञेय नहीं; अपितु परज्ञेय हैं। स्वज्ञेय तो मात्र ज्ञायक ही है। आत्मद्रव्य के प्रत्येक गुणों के परिणमन भी अन्यद्रव्यों के अनुसार, पाँच समवायपूर्वक क्रमबद्ध होते रहते हैं। ज्ञानी को ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा होने से एवं पर ज्ञेयमात्र में परत्वबुद्धि होने से, उसका ज्ञेयों में अपनत्व तो होता ही नहीं वरन् कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं होती; फिर भी ज्ञेय तो ज्ञान में ज्ञात हुए बिना भी नहीं रहते तथा स्व में अपनत्वपूर्वक स्थिरता की कमी के कारण आत्मा की परिणति भी उस ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहती और ज्ञानी उन ज्ञेयों की ओर से ज्ञान को हटाकर ज्ञायक की ओर ले जाने का प्रयत्न भी नहीं करता और न उनका नाश करके अन्यप्रकार के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा करता है; क्योंकि उसको श्रद्धा है कि मेरे ज्ञान की इससमय की पर्याय की योग्यता इनको जाननेरूप परिणमने की थी, वह प्रगट हुई है और उन ज्ञेयों की इस समय की योग्यता मेरे ज्ञान में निमित्तपने की थी वह प्रगट हुई है, दोनों का उत्पाद दोनों के क्रमबद्ध परिणमन हैं, इन कार्यों के करनेवाली दोनों की पर्यायें हैं, मैं तो इन सबसे भिन्न त्रिकाली ज्ञायक हूँ। इसप्रकार की श्रद्धा के बल से ज्ञेयों में स्वामित्व नहीं होता, परत्व बना रहता है। ज्ञानी का पुरुषार्थ तो मात्र ज्ञायक में अपनत्व बनाये रखने का और ज्ञेयों में अपनत्व नहीं होने देने का होता है, ज्ञेयों को हटाने अथवा भावों के परिवर्तन करने का नहीं होता। प्रथम पुरुषार्थ में वीतरागता की उत्पत्ति होती है और द्वितीय प्रकार के प्रयत्नों में राग उत्पन्न होता है जो संसार मार्ग है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से उपलब्धि

समस्त चर्चा का सारांश यह है कि विश्व अर्थात् छहों द्रव्यों के परिणमन क्रमबद्ध व्यवस्थित चल रहे हैं, किसी में किसी के द्वारा कुछ भी करने की गुजांइश नहीं है। सबमें से प्रत्येक की सत्ता स्वतंत्र होते हुए, अपनी शक्ति द्वारा अपने-अपने स्वभावों में, अपनी-अपनी योग्यतानुसार, अपनी शक्ति द्वारा, अपने-अपने स्वकाल में अनादि-अनन्त क्रमबद्ध परिणम रहे हैं। उनमें पाँच द्रव्य तो अचेतन हैं; इसलिए उनके तो पाँचों समवाय भी निश्चित क्रम से परिणमते रहते हैं; इसलिए उनके क्रमबद्ध परिणमन की स्वतंत्रता सरलता से समझ में आ जाती है; लेकिन अज्ञानी को एक जीवद्रव्य के परिणमने की स्वतंत्रता एवं क्रमबद्धता का विश्वास नहीं होता।

जीवद्रव्य भी स्वतंत्र सत्ता धारक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, सभी द्रव्यों में समान परिणमने वाला पदार्थ है। वह भी अपने अनन्त स्वभावों का धारक अपनी ही पर्यायों में परिणमनेवाला द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उनके स्वयं के प्रदेशों में होता है। वही उसके परिणमने का स्वक्षेत्र है। परिणमन का भाव भी उसका स्वयं का स्वभाव है एवं परिणमन निश्चितरूप से प्रतिसमय होता है, यही उसका स्वकाल है। इसप्रकार प्रत्येक जीव पदार्थ अपने-अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अवस्थित रहते हुए अपने ही स्वभावों में निश्चित स्वकाल के अनुसार क्रमबद्ध परिणमते रहते हैं। जीवद्रव्य के चतुष्टय में अन्यद्रव्य का तो अत्यन्ताभाव वर्तता है; इसलिए जीवद्रव्य के क्रमबद्ध होनेवाले परिणमन में कोई भी अन्य द्रव्य व्यवधान कर नहीं

सकता। इसप्रकार सब द्रव्यों के परिणमन उन-उन द्रव्यों के स्वभावों सहित उनके स्वयं के क्षेत्र में सीमित रहते हुए अपने निश्चितक्रम से वर्तनेवाले काल में क्रमबद्ध होते रहते हैं; इसलिए प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की क्रमबद्धता में व्यवधान करने की विश्व की किसी में भी सामर्थ्य नहीं है; अपितु अनन्त शक्ति के धारक सिद्धभगवान में भी नहीं है। ऐसा ही क्रमबद्ध जीवद्रव्य का भी परिणमन होता रहता है। अज्ञानी को विश्वास नहीं होता, इसकारण वस्तु का स्वरूप तो बदल नहीं सकता ? उसका विश्वास अर्थात् मान्यता ही मिथ्या सिद्ध होती है - ऐसा जिनवाणी से, युक्ति से अनुमान से एवं अपने अनुभव से भी स्पष्ट सिद्ध होता है; इसलिए ज्ञानी को इसकी निःशंकतापूर्वक प्रतीति होती है। फलतः अपने आत्मा के ज्ञायक-अकर्ता स्वभाव की उसको दृढ़ प्रतीति होती है, परद्रव्य अर्थात् ज्ञेयमात्र के प्रति अकर्तृत्वबुद्धि रहने से परिणति ज्ञेयमात्र की ओर से सिमटकर ज्ञायक में एकत्व करने के लिए तत्पर हो जाती है। एकत्व उसी में होता है जिसमें स्वामित्व अर्थात् अपनत्व होता है और उसी में ममत्व होता है तथा उसी के स्वाभाविक परिणमन अर्थात् ज्ञानक्रिया आदि का कर्तृत्व और उसी के फल स्वाभाविक सुख आदि में भोक्तृत्व होता है। ज्ञायक में स्वामित्व होते ही अज्ञानी को अनादि से चला आ रहा पर में एकत्व-ममत्व टूटकर पर में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वबुद्धि का भी अभाव हो जाता है। इसप्रकार महान उपलब्धि होती है, क्रमबद्ध परिणमन की श्रद्धा की।

क्रमनियमित परिणमना स्वभाव है

आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है, उसीरूप उसका अस्तित्व रहता है; अतः अनादि-अनन्त ध्रुव रहते हुए उत्पाद-व्यय करते रहना ही वस्तु का मूलभूत स्वभाव है। इससे ही नियमित

क्रम से परिणामन करते रहना आत्मवस्तु का मूलभूत स्वभाव है। ज्ञानी की निर्मल पर्यायों के परिणामन की क्रमबद्धता का समर्थन समयसार गाथा ३०८-३०९ की टीका में है -

“जीव क्रमबद्ध (क्रमनियमित) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।”

इसके अतिरिक्त समयसार परिशिष्ट के ४७ शक्तियों के प्रकरण में आचार्यश्री ने क्रमबद्धता को सिद्ध करनेवाली आत्मा में निम्न सात शक्तियाँ बताई हैं, उससे भी सिद्ध है कि आत्मा के परिणाम अनादि-अनन्त अनवरत रूप से निश्चित क्रम से होते ही रहते हैं, कभी व्यवधान नहीं पड़ सकता। वे शक्तियाँ निम्न हैं -

३३ वीं भावशक्ति - विद्यमान अवस्था युक्तारूप भावशक्ति अर्थात् ज्ञानी को प्रतिसमय निर्मल पर्याय विद्यमान रहती ही रहती है।

३४ वीं अभावशक्ति - शून्य अवस्था युक्तारूप अभावशक्ति अर्थात् तदनुकूल विकारी पर्याय के अभाव रहनेरूप शक्ति।

३५ भावाभावशक्ति - प्रवर्तमान पर्याय के व्ययरूप, भाव-अभावशक्ति।

३६ अभावभावशक्ति - अप्रवर्तमान (निर्मल) पर्याय के उदयरूप अर्थात् उत्पाद होना, अभावभावशक्ति।

३७ भावभावशक्ति - प्रवर्तमान पर्याय के भवनरूप अर्थात् जिस गुण की पर्याय है उसका उस रूप ही रहना।

३८ अभावअभावशक्ति - अप्रवर्तमान (विकारी) पर्याय के अभवनरूप अर्थात् नहीं होनेरूप अभावअभावशक्ति।

३९ भावशक्ति - कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित उससे रहित भवनमात्रमयी भावशक्ति।

इसके अतिरिक्त आत्मा के परिणामों का निर्मल भावपूर्वक निश्चित स्वक्रम से होनेवाले परिणामन को सिद्ध करनेवाली आगे की निर्मल षट्कारक रूप परिणामनेवाली शक्तियाँ भी हैं।

उक्त सभी प्रमाणों से भी स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ज्ञानी अपने सभी परिणामन निश्चितभाव पूर्वक निश्चित स्वक्रम से परिणामते हैं - ऐसी सामर्थ्य श्रद्धा वर्तने से ज्ञानी सदैव अकर्तृत्व की श्रद्धापूर्वक निर्भार रहता है।

इसप्रकार ज्ञानी के विश्व के प्रत्येक द्रव्य के पाँच समवायपूर्वक परिणामनों की स्वतंत्रता एवं क्रमबद्धता की श्रद्धा होने से, उनके परिणामन ज्ञान में ज्ञात होने पर भी एकत्व-ममत्वादि नहीं होता एवं अपनी आत्मा में होनेवाले विकारी भावों के पाँच समवायपूर्वक होनेवाले परिणामनों के प्रति भी कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती; उसकी श्रद्धा होती है कि उन विकारों की कर्ता उनकी पर्यायगत योग्यता है। उनका ज्ञान भी मेरी ज्ञानपर्याय की योग्यता का प्रदर्शन है। मैं तो उसका भी कर्ता नहीं हूँ। ज्ञानानन्दस्वभावी ऐसा मैं तो ध्रुव त्रिकाल चैतन्यमूर्ति हूँ। परद्रव्यों के परिणामन तो उनके स्वचतुष्टय में क्रमबद्ध परिणाम रहे हैं, उनके ज्ञानरूप परिणामन भी उनसे निरपेक्ष मेरी ज्ञानपर्याय की योग्यतानुसार होनेवाला क्रमबद्धपरिणामन है; उसीप्रकार मेरे आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होनेवाले विकारी-निर्विकारी परिणामन भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार क्रमबद्ध हो रहे हैं; तत्संबंधी ज्ञान, जो मेरी ज्ञानपर्याय में हो रहा है, वह भी उस ज्ञान पर्याय की

योग्यतानुसार क्रमबद्ध हो रहा है। मैं तो उसका भी कर्ता नहीं हूँ – ऐसा सभी प्रकार के परिणमनों से निरपेक्ष अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभावी मैं हूँ।

इसप्रकार ज्ञानी को अपना अस्तित्व ज्ञानानन्द स्वभावी मानने से अहंपना तो ज्ञायक चिन्मात्रभाव में हो जाता है; इसलिए स्वपना तो निरन्तर उसी में बना रहता है; फिर भी स्थिरता की कमी के कारण उपयोग पर में जाता है और योग्यतानुसार उनमें घुला-मिला सा भी हो जाता है; किन्तु परत्वबुद्धिपूर्वक, फिर भी ज्ञानी जाग्रत रहता है कि उनमें एकत्व नहीं हो जावे इसलिए उपर्युक्त प्रकार के वस्तुस्वरूप को मान्यता में जाग्रत रखता है। आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्य तो अपने-अपने चतुष्टय में अपनी-अपनी योग्यतानुसार क्रमबद्ध परिणम रहे हैं व परिणमते भी रहेंगे; उनका ज्ञान पर्याय में हो रहा है वह भी उनसे निरपेक्ष रहते हुए मेरी ज्ञानपर्याय की योग्यता का प्रदर्शन है और वह भी क्रमबद्धपर्याय का उत्पाद है; इसप्रकार परद्रव्यों के परिणमनों से तो मेरे जानने का भी संबंध नहीं रहता; वे तो मेरे लिए शून्यवत् हैं।

इसीप्रकार मेरी आत्मा के विकारी निर्विकारी परिणमन भी उनकी पर्यायगत योग्यतानुसार क्रमबद्ध हो रहे हैं; उनका ज्ञान भी उनसे निरपेक्ष रहते हुए ज्ञानपर्याय की योग्यता का प्रदर्शन है, वह भी उसके क्रमबद्ध होनेवाले परिणमन का उत्पाद है मेरा तो विकारी-निर्विकारी पर्यायों को जानने का भी उत्साह नहीं रहता, वे निमित्त हैं सो बने रहेंगे, उनके आकार परिणत मेरी ज्ञानपर्याय भी उस पर्याय का क्रमबद्ध परिणमन है; मैं तो उसका भी कर्ता नहीं हूँ। इसप्रकार की श्रद्धा जाग्रत रहने से

ज्ञानी का उनमें एकत्व एवं कर्तृत्वबुद्धि आदि नहीं होती और अपने ज्ञायक में अपनत्व अक्षुण्ण बना रहता है। परज्ञेय अपनत्वबुद्धिपूर्वक उसको आकर्षित नहीं कर सकते। उक्त चिन्तन द्वारा ज्ञानी को कोई आश्रयभूत नहीं भासता और एकमात्र अमूर्तिक आत्मा ही शरणभूत लगने लगता है। फलतः अपनत्व का आकर्षण अपने ज्ञायक में ही बना रहता है।

यही है ज्ञायक में अपनत्वपूर्वक वर्तनेवाली क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा की उपलब्धि और यही है उसकी श्रद्धा से होनेवाला यथार्थ पुरुषार्थ; यही है पुरुषार्थ भवभ्रमण के अन्त करने का।

क्रमबद्ध की श्रद्धा से ज्ञायक से एकत्व

प्रश्न – क्रमबद्ध परिणमन की श्रद्धा से ज्ञायक में अपनत्व कैसे हो जावेगा ?

उत्तर – अवश्य हो जायेगा; अपितु ज्ञायक में अपनत्व होने पर ही क्रमबद्ध परिणमन की श्रद्धा प्रगट होती है, ज्ञायक में अपनत्व होना, श्रद्धा अपेक्षा कथन है और क्रमबद्ध परिणमन का ज्ञान, ज्ञान अपेक्षा कथन है। वास्तव में दोनों साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। ज्ञानी का ज्ञान ज्ञायक को अपनत्वपूर्वक जानता है और ज्ञान में जो भी ज्ञेय ज्ञात होते हैं वे सब, ज्ञान को परत्वबुद्धिपूर्वक क्रमबद्ध परिणमते हुए भासित होने से, ज्ञान में भी गौण वर्तते रहते हैं। तथा ज्ञात होते रहने पर भी उनमें कर्तृत्वबुद्धि-भोक्तृत्वबुद्धि तथा एकत्व-ममत्व नहीं होता, स्वामित्व नहीं होता। अज्ञानी को इसके विपरीत ज्ञेयों के क्रमबद्ध परिणमन की श्रद्धा नहीं होकर स्वामित्वबुद्धि होने से, वह उनके परिणमनों का भी स्वामी बनकर कर्ता-भोक्ता बन जाता है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में अकार्यकारणत्व नाम की शक्ति है। त्याग-उपादानशून्यत्वशक्ति तथा अकर्तृत्वशक्ति एवं

अभोक्तृत्वशक्ति भी है। अतत्त्वशक्ति आदि शक्तियाँ ऐसी तो हैं जिनसे आत्मा परमें कुछ भी नहीं कर सके और भोग भी नहीं सकता; लेकिन आत्मा में ऐसी शक्ति का अभाव है कि पर में कुछ कर सके अथवा भोग सके; इसलिए अज्ञानी की मान्यता आधारहीन होने से सम्पूर्णतया मिथ्या है।

आत्मा का लक्षण तो चेतना है, चेतना जीव का जीवत्व है। चेतना का ही विशेषभाव ज्ञान है। इसप्रकार जानना आत्मा का मूलभूत स्वभाव है।

ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वभावी होने से, उसकी पर्याय स्वज्ञेय एवं परज्ञेय के आकाररूप होकर परिणमती है; गुणों का कार्य तो आत्मा के प्रदेशों में ही होता है, पर चतुष्टय में तो आत्मा का अत्यन्तभाव है। इसप्रकार आत्मा की अमूर्तिक ज्ञान पर्याय में, पर ऐसे लोकालोक का ज्ञान और आत्मा के अनन्तगुणों के तथा उनके परिणमनों का ज्ञान भी समा जाता है। साथ ही ज्ञान की वह पर्याय, महान सामर्थ्य का स्वामी ऐसे ज्ञायकरूपी ज्ञेय को भी जानता है, ऐसी महान अपरिमित ज्ञान का प्रकाशन भी ज्ञान, अपनी आत्मा में ही करता है; आत्मा में प्रकाशत्व नाम की शक्ति है, उसके द्वारा आत्मा अपने गुणों के कार्यों का वेदन अपने में ही करता है और स्वच्छत्वशक्ति के कारण लोकालोक के आकार अमूर्तिक ज्ञानोपयोग प्रतिभासित होते हैं अर्थात् ज्ञान, ज्ञेयों के आकाररूप परिणम जाता है। ज्ञान आदि प्रत्येक गुण के कार्यों का स्वामी भी अकेला आत्मा ही है; क्योंकि आत्मा में स्व-स्वामित्व सम्बन्ध नाम की शक्ति है; इसलिए जाननक्रिया का स्वामी भी आत्मा ही है, ज्ञेय उसके स्वामी नहीं हो सकते; इसीप्रकार परिणम्य-पारिणामिकत्व नाम की शक्ति के कारण आत्मा स्वयं ज्ञान भी है एवं स्वयं ज्ञेय भी है ज्ञेयाकार रूप भी है एवं

ज्ञानाकार स्वभावरूप भी स्वयं ही है; इसीप्रकार स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति के कारण आत्मा अपने धर्मों अर्थात् गुणों के परिणमनों में स्वयं ही व्यापता है।

उक्त चर्चा से स्पष्ट है कि आत्मा की जाननक्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है और उसकी व्याप्य-व्यापकता आत्मा के साथ होने से उसका उसके साथ तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है। ऐसे ज्ञान का परिणमन, उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय होने से वह प्रतिसमय जाननेरूप परिणमन करती है, इसप्रकार ज्ञान प्रत्येक समय का ज्ञायक ही है। ऐसी ज्ञान पर्याय आत्मा के अनन्तगुणों के कार्यों को भी जानती है - इसप्रकार उक्त ज्ञान पर्याय में समस्त आत्मा ही समा जाता है। समयसार परिशिष्ट में भी कहा है - अनन्त शक्तियाँ ज्ञान में उछलती हैं, इसप्रकार ज्ञान की शुद्ध पर्याय में अपनी आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्याय सहित समा जाती है एवं समस्त परज्ञेय अर्थात् लोकालोक भी उसी ज्ञान पर्याय में समा जाता है। विशेषता यह है कि इतने विशाल प्रमेयों को अपने में समा लेनेवाली ज्ञानपर्याय, उस ज्ञेय समूह से अपितु अपने गुणों के ज्ञान से भी, न्यायाधीश के समान अलिप्त रहता हुआ जानता है अर्थात् वह किसी के साथ एकमेक नहीं होता। इसप्रकार सिद्ध है कि आत्मा ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है और ज्ञायक भी है। ऐसे आत्मा में अभेदरूप से स्व के द्रव्य उसके अनन्त गुणों एवं त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों का ज्ञान एकसाथ समा जाता है एवं विश्व के अनन्तानन्त द्रव्य, उनके गुण एवं उनके त्रिकालवर्ती परिणमनों का एकसाथ होनेवाला ज्ञान भी समा जाता है; क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, स्व-परप्रकाशक है, इतना होते हुए भी ज्ञेयों का अंश भी ज्ञान में नहीं आता; अपितु ज्ञान ही अपनी सामर्थ्य से ज्ञेयों के आकार हो जाता है, उसी को ज्ञेयों को जानना - ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार

आत्मा की पूर्णविकसित एकसमयवर्ती ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय में स्व एवं पर समस्त ज्ञेय समूह अभेदरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है; ऐसी ज्ञायक आत्मा को ही सर्वज्ञ कहा जाता है। **ऐसा वस्तु का स्वरूप है और प्रत्येक आत्मा के ज्ञान का स्वभाव भी ऐसा ही है।** ज्ञानी की श्रद्धा में तो उक्त आत्मा और ज्ञान का स्वभाव स्पष्ट प्रगट रहता है; किन्तु परिणमन तद्रूप नहीं होता। इसकारण **ज्ञानी श्रद्धा में तो अपने ज्ञायक आत्मा को सिद्ध स्वभावी मानता है** फलस्वरूप उसका ज्ञान भी सम्यक् हो जाने से अपने को तो सिद्धसमान ज्ञायक जानता है एवं अपना परिणमन भी ज्ञानरूप मानता है जिसका स्वभाव ही ज्ञेयों से अलिप्त रहते हुए न्यायाधीश के समान मात्र जानने का है, जिसको जाने उसमें मिलने का स्वभाव नहीं है। **वस्तुमात्र का स्वभाव अपने-अपने भावों में क्रमबद्ध परिणमन करते रहने का है, ऐसी उसको श्रद्धा वर्तती है।** फलस्वरूप जिनको भी जानता है, उनको परज्ञेय के रूप में क्रमबद्ध परिणमते हुए जानने से, उनमें स्वामित्व नहीं होता, एकत्व-ममत्व नहीं होता तथा उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी उत्पन्न नहीं होता; मात्र जानना बना रहता है। ज्ञायक में स्थिरता की कमी की तारतम्यता के अनुसार ज्ञेयों में घुल-मिल भी जाता है, करने-भोगने के भाव भी हो जाते हैं; किन्तु स्वामित्व नहीं होने से, मिथ्यात्वी के समान एकमेक नहीं होता फलतः उनमें गृह्यता नहीं होती।

ज्ञानी का स्व-ज्ञायक में अपनापन अक्षुण्ण बना रहकर रुचि की उग्रतापूर्वक, क्रमशः स्थिरता बढ़ाता हुआ पूर्ण दशा प्राप्त कर लेता है। स्थिरता बढ़ाने के कार्य में न तो किसी कर्म का उदय बाधा डाल सकता है और न मन-वचन-काय की किसी भी प्रकार की क्रियासाधक हो सकती है; ये तो मात्र निमित्त की मुख्यता से कहा जाता है। वास्तव में रुचि की क्रमशः बढ़ती हुई उग्रता ही पूर्णता

प्राप्त कराती है।

भावकर्मों के अभाव का पुरुषार्थ

प्रश्न – आत्मा की प्रगट पर्याय में ज्ञान के अतिरिक्त भावकर्म भी वर्तते रहते हैं, उनका अभाव हुए बिना पूर्णदशा भी प्रगट नहीं होती; इसलिए उनके अभाव करने का पुरुषार्थ तो होना चाहिए?

उत्तर – प्रश्न यथार्थ है। समाधान के लिए प्रथम भावकर्म के प्रकार एवं उनकी उत्पत्ति के कारणों को समझ लेना चाहिए। भावकर्मों में मुख्य भावकर्म दो हैं – दर्शनमोह (मिथ्यात्व) अर्थात् पर को अपना मानना और दूसरा है चारित्र मोह अर्थात् स्व में स्थिरता का अभाव तथा पर को अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करना। वर्तमान प्रकरण में हमारा उद्देश्य मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न करने का है। मिथ्यात्वरूपी भावकर्म का अभाव तो उपर्युक्त उपायों द्वारा स्व-पर अर्थात् ज्ञायक में अपनत्व करते ही आत्मानुभव द्वारा हो जाता है और उसी क्षण मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का नाश भी हो जाता है। इसप्रकार के भावकर्म के अभाव करने की चर्चा तो की जा चुकी है; किन्तु फिर भी ज्ञायक में स्थिरता की कमी के कारण ज्ञानी का ज्ञान परज्ञेयों की ओर आकृष्ट होकर उनमें अच्छे-बुरे की कल्पना करता है तथा हर्ष-विषाद भी करता है इसप्रकार के भावकर्म ज्ञानी को भी होते हैं। अतः अब ऐसे भावकर्म के अभाव करने का उपाय विचारते हैं –

रागादिभावकर्म की पर्याय और ज्ञान की पर्याय दोनों आत्मा के प्रदेशों में एकसाथ उत्पन्न होते हैं; लेकिन दोनों में अतद्भावरूप भिन्नता रहने से दोनों का क्षेत्र एक ही रहने पर भी दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न चलते रहते हैं अर्थात् रागादि अशुद्ध परिणतिरूपी भावकर्म और ज्ञान का जाननेरूपी कार्य एक ही पर्याय में भिन्न-भिन्न चलते रहते हैं। अज्ञानी को दोनों

के भेद का ज्ञान नहीं होता; इसलिए वह तो ज्ञान का उल्लंघन कर भावकर्मों का स्वामी बन जाता है और अपने को उनका कर्ता-भोक्ता मानकर आत्मा को रागी-द्वेषी मान कर दुखी होता रहता है।

उक्त भावकर्मों में श्रद्धागुण का विपरीत परिणामन ऐसा मिथ्यात्व जबतक रहता है; तबतक अनन्तानुबंधी के राग-द्वेषादि भाव भी अवश्य रहते हैं और उसका अभाव भी मिथ्यात्व के साथ होता है। दोनों के उत्पाद, उनकी तारतम्यता तथा विनाश एक ही पर्याय में होते हुए भी, ज्ञान उन सबको तटस्थ रूप से जानता रहता है; लेकिन जिसको श्रद्धा ने अपना अर्थात् स्व माना हो, आत्मा के अन्य गुणों के साथ ज्ञान भी उस ओर झुका रहता है फिर भी मिश्र नहीं हो जाता, अलिप्त रहता हुआ जानता है। इसमें महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि आत्मा के प्रदेशों में अनन्तगुणों का कार्य एकसाथ होते हुए भी और ज्ञान उनमें अभिन्न होते हुए भी, जानने के कार्य की अपेक्षा, ज्ञान का कार्य तो उनसे अलिप्त रहते हुए, स्व एवं पर दोनों के कार्यों को जानने का चलता रहता है।

अज्ञानी को उक्त स्वरूप एवं प्रक्रिया का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान नहीं होने से, वह ज्ञान को ही अपराधी मानकर, पर की ओर से ज्ञान को हटाकर ध्रुव की ओर ले जाने की चेष्टा करता रहता है; किन्तु उसका प्रयास निरर्थक रहता है; क्योंकि अपनत्व का कार्य तो श्रद्धा का है ज्ञान का नहीं। श्रद्धा यथार्थ होने पर अर्थात् ध्रुव ऐसे ज्ञायक में अपनत्व होते ही, पर में अपनत्व का सहज ही अभाव-व्यय हो जाता है। जबतक पर में अपनत्व था तब तक मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी दोनों का अस्तित्व भी था और ज्ञायक में अपनत्व होते ही, दोनों प्रकार के भावकर्मों का एकसाथ ही अभाव हो जाता

है। कोई अन्य प्रकार का पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी का वर्णन करणानुयोग में निमित्त की प्रधानता से द्रव्यकर्मों के अभाव के माध्यम से किया जाता है।

ज्ञानी हो जाने के पश्चात् भी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन संबंधी भावकर्मों का नाश होना शेष रह जाता है, उसका उपाय भी ध्रुव में स्थिरता बढ़ाना ही है, अन्य कोई उपाय नहीं है। स्वरूपस्थिरता के साथ ही पर्याय में शुद्धि की वृद्धि होती है। उसका वर्णन चरणानुयोग की शैली में निमित्त की प्रधानता से मन-वचन-काय की क्रियाओं के परिवर्तन द्वारा, शुद्धि का ज्ञान कराया जाता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि भावकर्मों के नाश करने का उपाय तो एकमात्र ज्ञायक में अपनत्व स्थापन करके, उसी में स्थिरता अर्थात् लीनता करना है, द्रव्यकर्मों और भावकर्मों अथवा नोकर्मों में कुछ भी करना नहीं है। आत्मा में अपनत्व होते ही भावकर्मों के अभाव होने की श्रृंखला प्रारंभ हो जाती है। इसप्रकार के भावकर्मों की उत्पत्ति और अभाव में निमित्तभूत द्रव्यकर्मों की तारतम्यता के कथन से, आत्मा के भावों में होनेवाली शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान हो जाता है; क्योंकि शुद्धि-अशुद्धि के उत्पादनरूपी कार्य में पाँच समवायों में निमित्त की उपस्थिति की भी अनिवार्यता रहती है। इसीप्रकार आत्मा में जितनी शुद्धि प्रगट होती है, उसके पाँच समवायों में मन-वचन-काय के तदनुकूल परिणामन का निमित्तपना अनिवार्यरूप से होता है; इसलिए शुद्धि के साथ परिवर्तन होनेवाली मन-वचन-काय की क्रियाओं की तारतम्यता के ज्ञान द्वारा प्रगट हुई शुद्धि का ज्ञान हो जाता है। इसप्रकार अरूपी आत्मा में वर्तनेवाले भावकर्मों के नाश करने की तारतम्यता का ज्ञान तो द्रव्यकर्मों में होनेवाली तारतम्यता के ज्ञान द्वारा हो जाता

है, उससे तदनुकूल पुरुषार्थ होने का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। इसीप्रकार उक्त पुरुषार्थ द्वारा जो आत्मा के अरूपी भावों में शुद्धि प्रगट होती है उस शुद्धि की प्रगटता के पाँच समवायों में रूपी मन-वचन-काय के परिवर्तन की निमित्तता अनिवार्य रूप से रहती है; इसलिए इनके परिवर्तन की तारतम्यता के ज्ञान द्वारा आत्मार्थी को अपनी शुद्धि की वृद्धि का ज्ञान होकर पुरुषार्थ उग्र होकर आत्मा को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इसप्रकार मोक्षमार्ग जो अरूपी भावों में प्रगट होता है, उसका समुचित और सत्यार्थ मार्ग प्राप्त होकर, आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उक्त समस्त चर्चा का तात्पर्य यह है कि आत्मा तो ज्ञान का घनपिण्ड त्रिकाल ज्ञायक ध्रुवभाव है और जानना उसकी त्रिकाल वर्तनेवाली क्रिया है, आत्मा उसका कर्ता है और जानना उसका कर्म है। स्व और पर को जानना उसका स्वभाव है। आत्मा में स्व-स्वामित्व संबंधशक्ति होने से स्व अर्थात् ज्ञायक उसका स्वामी है। चारित्र नाम की शक्ति का कार्य लीनता करना है।

इसलिए ज्ञायक में अपनत्व करके उसी में तन्मय रहते हुए स्व एवं पर को जानते रहने का आत्मा का स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञानी को स्व का ज्ञान तो तन्मयतापूर्वक होता है और पर का ज्ञान अपनी चारित्रगत शुद्धि के अनुसार अतन्मयतापूर्वक होता है। यह तो आत्मवस्तु का स्वभाव है और यह स्वभाव केवली भगवान की आत्मा में प्रगट वर्तता है; इसलिए ज्ञानी को उक्त स्वभाव की श्रद्धा प्रगट हो जाती है, वह तो मोक्षमार्गी बन जाता है और जिसको उक्त स्वभाव की श्रद्धा नहीं होती, वह संसारमार्गी बना रहता है। अज्ञानी के नहीं मानने पर भी वस्तु का स्वभाव तो है वैसा ही रहेगा। कहा

भी है -

“एक होय त्रण कालमां, परमारथनो पंथ”

जिसने उक्त वस्तुस्वभाव को जानकर, पहिचानकर उस पर निःशंक श्रद्धा कर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है। उसको तो मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का अभाव हो जाने से स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो गया है तथा उसने तो अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का आंशिक स्वाद भी चख लिया है; फिर भी स्वरूपस्थिरता की कमी के कारण उसको भी चारित्र मोह संबंधी रागादि होते हैं और तदनुकूल मन-वचन-काय की क्रियाएँ भी वर्तती हैं, ज्ञान भी उनमें उलझता है, एकमेक हो जाता है; फिर भी ज्ञायक में अपनत्व एवं स्वरूपाचरण तो अक्षुण्ण वर्तता ही रहता है, उसके बल से उसका ज्ञान जाग्रत रहता है। अपने परिणमन में होनेवाले भाव एवं मन-वचन-काय की क्रियाएँ उसके ज्ञान में प्रगट वर्तती हुई अनुभव में आती हैं। उसको उक्त वस्तुस्वभाव की श्रद्धा एवं ज्ञान जाग्रत रहने से उक्त प्रकार से आत्मा में होनेवाले भाव एवं मन-वचन-काय क्रियाओं के परिणमन, सब पर में होनेवाले परिणमन भासते हैं, चारित्रमोह संबंधी होनेवाले भावों को अर्थात् तद्तद् गुणों के परिणमनों को, पाँच समवाययुक्त क्रमबद्ध वर्तनेवाले परिणमन जानकर, उनका तटस्थ ज्ञाता बना रहता है। उनके अभाव करने आदि के कार्यों में नहीं उलझता। उसको श्रद्धा है कि उक्त परिणमन स्व क्रम में होनेवाले उनके परिणमन हैं, वे भी अपने समय के सत् हैं आदि-आदि प्रकार की श्रद्धा द्वारा न तो उनका स्वामी बनता है और न कर्ता-भोक्ता बनता है, मात्र तटस्थ ज्ञाता रहता है।

ज्ञानी को उक्तप्रकार के विकल्प नहीं करने पड़ते, विचार नहीं

करना पड़ता; क्योंकि विकल्प और विचार तो चारित्र मोह संबंधी भावकर्म है; इसलिए ज्ञानी को सम्यक् श्रद्धा के साथ जो परिणति उत्पन्न होती है, उसमें समस्त गुणों का आंशिक कार्य भी प्रगट रहता है, उसमें ज्ञान एवं चारित्र का अंश भी साथ वर्तता है; लेकिन श्रद्धा तो सिद्ध की और ज्ञानी की समान होती है। इसलिए ज्ञायक में अपनत्व के साथ समस्त गुणों के कार्य सम्यक्त्व रहने तक परिणति में धारावाहिक अक्षुण्ण रूप से वर्तते रहते हैं। ऐसी परिणति का परिणमन, उपयोगात्मक नहीं होते हुए भी वह परिणमन परिणति में व्यक्त रहता है। इस परिणति की व्यक्तता का संबंध ज्ञान के उपयोग से नहीं होकर, अन्य गुणों के साथ वर्तनेवाले ज्ञान के परिणमन से है; इसीलिए ऐसी श्रद्धा धारावाहिक रहती है। उपयोग तो पलटता रहता है; लेकिन परिणति अक्षुण्ण रहती है। जैसे मित्र के भी शत्रु बन जाने पर उसके साथ मित्र के समान व्यवहार करने पर भी अन्तर में श्रद्धा उसके विपरीत वर्तती रहती है, उससे ज्ञानी की श्रद्धा का भी अनुमान लगा लेना। उक्त प्रकार की परिणति वर्तते रहने से ज्ञानी चारित्रमोह से उत्पन्न होनेवाली उक्त क्रियाओं में एकमेक हो गया दिखने पर भी, उनसे अलिप्त रहकर, उनमें स्वामित्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं होने देता। फलतः मिथ्यात्वजन्य रागादि उत्पन्न नहीं हो सकते और मोक्षमार्गी बना रहता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग का प्रारम्भ अर्थात् मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का अभाव तो ज्ञायक में अपनत्व होने से होता है, उसी से संबंधित समस्त द्रव्यकर्मों एवं भावकर्मों का नाश सहजरूप से स्वयं ही हो जाता है, अन्य किसी में कुछ नहीं करना पड़ता।

निष्कर्ष

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभावों सहित ध्रुव-नित्य-अपरिवर्तित रहते हुए भी परिणमती रहती है; यथा “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्” इसप्रकार चेतनवस्तु अपने चेतनस्वभावों सहित अपने ही द्रव्य में तथा अचेतनवस्तुयें अपने-अपने अचेतनस्वभावों सहित, अपने-अपने द्रव्यों में अबाधरूप से अनादि-अनन्त परिणमती रहती हैं। यह तो प्रत्येक वस्तु का वस्तुगत स्वभाव है, ऐसे परिणमन का कोई कर्ता नहीं है। इसप्रकार जब वस्तु का अस्तित्व अनादि-अनन्त है और काल का समय समयवर्ती प्रवाह भी अनादि-अनन्त है, तो प्रत्येक वस्तु के परिणमन भी प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक वस्तु का प्रतिसमय का परिणमन अनन्तकाल का निश्चित स्वकाल से क्रमबद्ध होना सहज ही प्रतिफलित होता है और इससे सिद्ध हो जाता है कि क्रमबद्धपरिणमन होना तो वस्तु का वस्तुभूत स्वभाव है।

इतना अवश्य है कि ऐसे परिणमन पाँच समवाययुक्त होते हैं। उन पाँच समवायों में १. स्वभाव = चेतन का कार्य चेतन ही होगा। २. जिस काल में जिस कार्य की सम्पन्न होती है वह उसका स्वकाल, ३. नियति = जो कार्य सम्पन्न होता है, वही कार्य सम्पन्न होने की उस पर्याय की सामर्थ्य-योग्यता ४. पुरुषार्थ = कार्य के अनुकूल वीर्य का उत्थान होना; ये चारों समवाय तो जिस वस्तु में कार्य होता है उसमें होते हैं; किन्तु एक निमित्त नामक समवाय, कार्य के अनुकूल होनेवाला परद्रव्य का परिणमन होता है। इसप्रकार पाँचों की एक ही काल में समग्रता कार्य की संपन्नता का नियामक होता है, यह तो वस्तुस्वरूप है। इसमें मुख्य ध्यान करने योग्य यह है कि क्रमबद्धपरिणमन तो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है; इसलिए उपादानरूपी वस्तु जिसमें कार्य संपन्न हुआ है उसका एवं निमित्तरूपी

वस्तु जिसमें कार्य नहीं हुआ है; किन्तु निमित्त है, उसका भी अपनी-अपनी पाँच समवाय युक्त पर्यायगत योग्यता से क्रमबद्ध परिणमते रहने का स्वभाव है। तदनुसार ही कार्य की संपन्नता भी हो रही है। इसप्रकार प्रत्येक कार्य की संपन्नता करनेवाला कोई अन्य कर्ता नहीं हो सकता। वस्तु की पाँच समवाययुक्त स्वयं की योग्यता (सामर्थ्य) ही कार्य की नियामक होती है।

प्रश्न :- ऐसी श्रद्धा से आत्मा को क्या लाभ होगा ?

उत्तर :- आत्मा को अनाकुल शांति (सुख) की प्राप्ति होगी। आत्मा का वास्तविक अस्तित्व तो अमूर्तिक पुरुषाकार अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड, ज्ञानानन्द स्वभावी अकर्ता-अभोक्ता एवं नित्य-एक और ध्रुव चैतन्यमूर्ति है। उसका परिणमन भी ज्ञानरूप ही होता है। ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक स्वभावी होने से, स्व एवं पर सबको जानता है।

उक्त स्व-पर को जानने की क्रिया भी मेरी ज्ञानपर्याय का ही परिणमन है। मेरी ज्ञान पर्याय ही ज्ञेय के आकार होकर परिणमती है, उसी ज्ञानपर्याय को मेरा ज्ञान जानता है, उसी को ज्ञेयों का जानना कह दिया जाता है, ज्ञेय को जानने के लिए न तो ज्ञान को ज्ञेय के पास जाना पड़ता है और न ज्ञेय को ज्ञान के पास आना पड़ता है; अपितु ज्ञेय के सन्मुख रहते हुए स्व-पर का ज्ञान कर लेता है - ऐसी ज्ञान के सामर्थ्य की विचक्षणता है, यह तो ज्ञान के जानने का स्वभाव है, ज्ञानी-अज्ञानी, निगोद से सिद्ध तक के सब जीवों के जानने की प्रक्रिया समानरूप से होती है, दूसरी ओर जानने के विषय छहों द्रव्य उनके गुण-पर्यायों सहित होते हैं; क्योंकि प्रमेयत्व गुण होने से मेरे अन्य द्रव्य के भी समस्त गुण एवं उनकी पर्यायों मेरे ज्ञान में ज्ञात होती हैं। इसप्रकार आत्मा स्व-पर का ज्ञायक है।

उक्त स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव की पूर्ण प्रगटता अरहंत-सिद्ध भगवान को प्रगट है; पर्याय की वह प्रगटता ज्ञान की सामर्थ्य को सिद्ध करनी है, जो सामर्थ्य पर्याय में प्रगट हुई है वह उनके द्रव्य में भी तब ही प्रगट होती है। इससे फलित होता है कि मेरे आत्मद्रव्य की भी सिद्ध के समान लोकालोक को जानने की है और वह जानना भी सम्भव हो सकता है जबकि लोकालोक का ज्ञान मेरी ज्ञानपर्याय में ही हो; अतः मेरी ज्ञान की ही इतनी विशाल सामर्थ्य है कि वह तो लोकालोक के आकार एवं अपने आत्मा में होनेवाले कार्य कलापों के आकार समस्त ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुए परिणमती है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में भी मेरी ज्ञानपर्याय अपनी प्रगट हुई योग्यता के अनुसार ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुए परिणमती है अर्थात् जानती है।

प्रश्न :- इस जाननक्रिया के जानने से आत्मा सुखी कैसे हो जावेगा ?

उत्तर :- स्पष्ट है कि भगवान सिद्ध अनाकुल आनन्द को भोगते हुए अनन्तकाल सुखी रहते हैं। और वे सर्व और वीतरागी हैं; इसलिए पूर्ण वीतरागी रहते हुए सर्व (ज्ञेयमात्र) को जानने वाला ही परम सुखी हो सकता है। रागी एवं अल्पज्ञानी नहीं हो सकता है। स्व अर्थात् ज्ञायक चैतन्यमूर्ति को तन्मयतापूर्वक जानने से वीतरागता की उत्पत्ति होती है एवं पर ज्ञेय मात्र का ज्ञान अतन्मयता अर्थात् तन्मयता रहित जानने से ज्ञान विशालता को प्राप्त होता हुआ सर्वज्ञता को प्राप्त हो जाता है एवं ज्ञेयमात्र में मोह-रागादि उत्पन्न नहीं होते फलतः आत्मा वीतरागी रहता है। ज्ञान के साथ श्रद्धा, चारित्र एवं सुख आदि अनन्तगुणा भी स्व में अपनत्व के साथ तन्मय होकर वर्तने लगता है फलतः आत्मा अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता

हो जाता है। इसप्रकार भगवान परमसुखी हैं।

प्रश्न :- इसके जानने से हम सुखी कैसे हो जावेंगे ?

उत्तर :- जब हमारे साध्य जो सिद्ध भगवान वे परमसुखी हैं, तो साधना भी उसी जाति की होती है और उसका फल भी साध्य की सिद्धि होती है; तथा साधक को उसी जाति की प्रगटता का प्रारम्भ हो जाता है। यही कसौटी है, वास्तविक साधना की अर्थात् परीक्षा का माप डंड है इसके जिस साधना के फल में आकुलता की अर्थात् मोह-रागादि भावकर्मों की उत्पत्ति होती है, वह साधना मार्ग की पुष्टि करनेवाली होती है।

साधना का प्रारम्भ होता है सम्यग्दर्शन से अर्थात् सम्यक्त्वी जीव साधक है, उसको ज्ञायक चैतन्यमूर्ति में अपनत्व होकर स्वरूपाचरण चारित्र एवं सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है; अतः उसका ज्ञान सम्यक् होकर वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसको वैसा ही जानता है एवं स्व में अपनत्व होने से स्व को तो तन्मयतापूर्वक, सिद्ध के समान जानत है; किन्तु चारित्र की प्रगटता स्वरूपाचरण मात्र होने से तथा पूर्ण स्थिरता की कमी के कारण, साधक का ज्ञान परज्ञेयों की ओर भी आकर्षित हो जाता है; किन्तु परत्वबुद्धिपूर्वक; फलतः अज्ञानी के समान तन्मय नहीं होता, स्व में स्वपना वर्तता रहता है। फिर भी ज्ञान परज्ञेयों में उलझ जाता है। परज्ञेयों के करने-भोगने के विकल्प भी होते हैं, उनमें एकमेक होना या जैसा दिखते हुए भी उनमें परत्वबुद्धिपूर्वक तन्मय होता है। साधक को वस्तु स्वरूप, ज्ञान-श्रद्धान में वर्तते हुए उसकी श्रद्धा होती है कि प्रत्येक वस्तु के प्रतिसमय के परिणमन क्रमबद्ध व्यवस्थित होते हैं, तदनुसार होते हुए ही ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं; प्रत्येक परिणमन के पाँच समवाय की व्यवस्थित अपने क्रम से परिणम रहे हैं। मेरे आत्मा में होनेवाले प्रत्येक परिणमन

भी निश्चित स्वकाल में अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता आदि के अनुसार अपने स्वकाल में परिणमते हुए निश्चित निमित्त की उपस्थिति में क्रमबद्ध हो रहे हैं; उन किसी परिणमन में मुझ ज्ञायक का किसीप्रकार का भी किंचित् भी योगदान नहीं है; अपितु उक्त परिणमनों को जाननेवाली मेरी ज्ञानपर्याय भी प्रतिसमय पाँच समवाययुक्त निश्चित स्वक्रम में परिणम रही है। मैं उन संबंधी ज्ञेयाकार तो ज्ञानपर्याय में पर्यायगत योग्यतानुसार अपने स्वकाल में पर्यायगत पुरुषार्थ से क्रमबद्ध उत्पन्न हुए हैं और तदनुकूल ज्ञेयों का होना, वह उन ज्ञेयरूप परद्रव्यों का क्रमबद्ध परिणमन है। फलतः मैं तो उनका भी कर्ता तो नहीं ज्ञाता भी कथनमात्र से है; क्योंकि ज्ञाता तो मैं स्व अर्थात् अपने ज्ञायक स्वतत्त्व का हूँ - ऐसी श्रद्धा-ज्ञान वर्तते, रहने के कारण साधक उनमें घुला-मिला दिखते होने पर भी, उनमें तन्मय नहीं हो जाता; अतन्मय जैसा ही बना रहता है, फलस्वरूप साधक भी आंशिक वीतरागतापूर्वक ज्ञायक बना रहता है और आंशिक अनाकुल शांति का निरन्तर वेदन करता रहता है। इसप्रकार साधक भी जिनेन्द्र का लघुनंदन बन जाता है। अरहंत भगवान वीतरागतापूर्वक सर्वज्ञेयों को जानते हैं तो साधक स्वरूपाचरणचारित्र अर्थात् स्व में अपनत्व के आचरणपूर्वक अल्पज्ञेयों को जानता है फलतः वे पूर्ण अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द को अनन्तकाल तक भोगते रहते हैं; किन्तु साधक उसी शांति के अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द के अंश का साधक काल तक अनवरत भोगते रहते हैं। इसप्रकार स्वज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनत्वपूर्वक ज्ञात होनेवाले सभी परिणमन पाँच समवाययुक्त क्रमबद्ध होते रहते हैं, ऐसे वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा ही सम्यक्त्व को बनाये रखने का एवं परज्ञेयमात्र में अकर्तृत्व की श्रद्धा दृढ़ करने के साथ ही स्व में लीनता-रमणता बढ़ाने का यथार्थ पुरुषार्थ है तथा आत्मा की ज्ञानानन्दी दशा प्रगट करने का वास्तविक उपाय है।

इसके विपरीत अज्ञानी का परज्ञेयों में अपनत्व होने से, वह उन ज्ञेयों को स्वामी मानकर उनको अपने अनुकूल परिणमने की चेष्टा करता है; किन्तु वे तो स्वतंत्र द्रव्य हैं, अपने स्वकाल में अपनी योग्यता के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक परिणमन करते हैं; इसलिए अज्ञानी के प्रयास सफल नहीं होने से, यह निरन्तर आकुलित रहता हुआ दुःखी होता रहता है, ऐसी अनाकुलता की पराकाष्ठा निगोद दशा को प्राप्तकर अनंतकाल तक भ्रमण करता रहता है। इसप्रकार विपरीत मान्यता का फल संसार परिभ्रमण होता है और यथार्थ अर्थात् सम्यक् मान्यता का फल संसार भ्रमण का अंत होकर मुक्त दशा की प्राप्ति होती है।

सारांश

सारांश इतना ही है कि मेरा आत्मा तो अरहंत की आत्मा के समान सर्वज्ञ और वीतराग स्वभावी है और उनके समान ही स्व-पर का ज्ञायक भी है। जानना अपने स्वक्षेत्र में ही स्वसन्मुखतापूर्वक होता है, पर के सन्मुख होकर पर का भी ज्ञान नहीं होता; लेकिन अरहंत का अपनत्व स्व में होने से ज्ञान-चारित्र भी स्व में एकत्व करते हैं, फलतः स्व का जानना तो तन्मयतापूर्वक होने से परम अनाकुल आनन्द का सर्जन करता है; लेकिन मेरे ज्ञान ने निर्णय किया है कि ध्रुवतत्त्व तो मेरा अरहंत भगवान के समान ही है, दोनों में किंचित् भी अन्तर नहीं है और मैं तो ध्रुव ही हूँ; अतः जो अरहंत भगवान करते हैं, वही मैं भी करता हूँ। वे स्व में अपनत्वपूर्वक स्व को तो तन्मयतापूर्वक जानते हैं एवं स्व में ही पूर्ण लीन रहते हुए पर का ज्ञान उनको अतन्मयता एवं पूर्ण लीनता पूर्वक होता है फलतः उनको मोहरागादि की उत्पत्ति किंचित् भी नहीं होती और परम आनन्द का सर्जन होता है।

मैं भी स्व को तो अपनत्वपूर्वक तन्मयता सहित ही जानता हूँ; किन्तु स्व में स्वरूपाचरणचारित्र अनुसार ही होती है; इसलिए मेरा ज्ञानमात्र स्वरूप में ही संवृत्त नहीं रह पाता और पर की ओर भी आसक्त हो जाता है; किन्तु परत्वपूर्वक, अपनत्वपूर्वक नहीं; किन्तु मेरी ऐसी निःशंक श्रद्धा है कि परज्ञेय जितने भी हैं, वे मेरे से भिन्न रहते हुए, प्रतिसमय अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने स्वकाल में अपनी-अपनी योग्यता से पाँच समवाय पूर्वक क्रमबद्ध परिणम रहे हैं, सबके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव उनमें नियत हैं, वे सब अपने-अपने समय के सत् है, मेरी परिणमन भी सम्मिलित हैं, मेरी जो स्वाभाविक ज्ञानपर्याय है। वह भी नियमित क्रम पूर्वक परिणम रही है, उस ज्ञानपर्याय में निमित्त होने की जिस पदार्थ की योग्यता है वह भी क्रमबद्ध निश्चित है; इसलिए इष्ट-अनिष्ट मानने अथवा रागादि का कोई कारण नहीं रहता; अतः परज्ञेयों का ज्ञान भी केवली के अनुरूप अतन्मय समान वर्तता है; एकत्व नहीं होता, फलतः आंशिक अनाकुलशांति भी वर्तती है और अन्तर से विश्वास होता है कि अब भव का अन्त आ गया है।



जिनेन्द्रकथित शास्त्र-अभ्यास से लाभ

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना)

१. कषायों का अभाव हो जाता है।
२. माया, मिथ्यात्व, निदान - इन तीन शल्यों का ज्ञानाभ्यास से नाश होता है।
३. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
४. अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
५. शास्त्राभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
६. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
७. जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है।
८. अशुभ कर्मों का नाश होता है।
९. जिनधर्म की प्रभावना होती है।
१०. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप ऋण नष्ट हो जाता है।
११. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
१२. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१३. शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१४. भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१५. ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट होते हैं।
१६. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञान-दान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१७. दुःखित जीव को सदा ज्ञान ही शरण/आधार है।
१८. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१९. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।
२०. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान बढ़ता जाता है।
२१. ज्ञान से ही सम्यक्दर्शन उत्पन्न होता है।
२२. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

ग्रन्थ का नाम	मूल्य (₹.)	ग्रन्थ का नाम	मूल्य (₹.)
मोक्षशास्त्र	६०.००	सुखी होने का उपाय भाग ६,७	१०.००
चौबीस तीर्थंकर महापुराण/जिनवाणी संग्रह	५०.००	जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय	१०.००
समयसार	५०.००	आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	१०.००
रत्नकरण्डश्रावकाचार/मो.प्र. ३,४	४०.००	कालजयी बनारसीदास/अहिंसा के पथ पर	१०.००
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-१	३५.००	दृष्टि का विषय/क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका	१०.००
प्रवचनसार (जयसेनाचार्य)	३२.००	णमोकार महामंत्र एक अनुशीलन	१०.००
प्रवचनसार/नियमसार/प्रवचनरत्नाकर-११	३०.००	बालबोध भाग १, २, ३	८.००
हरिवंशकथा/अष्टपाहुड़/मोक्षमार्ग प्रकाशक	३०.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १, २	८.००
क्षत्रचुड़ामणि	३०.००	छहढाला (सचित्र)/भ. ऋषभदेव	८.००
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-२ (उत्तरार्द्ध)	३०.००	शीलवान सुदर्शन/जैन नर्सरी	८.००
समयसार नाटक/मो.प्र.२/समयसार का सार	२५.००	सुखी होने का उपाय भाग २, ३	८.००
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग २पू. एवं भाग-३	२५.००	प्रशिक्षण निर्देशिका/जैन विधि-विधान	८.००
शलाका पुरुष/दिव्यध्वनिसार प्रवचन	२५.००	क्रमबद्धपर्याय/बारसाणुवेक्खा	८.००
समयसार अनुशीलन १,५/भावदीपिका	२५.००	आप कुछ भी कहो	८.००
बृहदब्रह्म संग्रह/जिनेन्द्र अर्चना/सिद्धचक्र वि.	२५.००	बीस तीर्थंकर विधान/१७० तीर्थंकर विधान	७.००
योगसार प्रवचन/तीनलोक मंडल विधान	२०.००	सुखी होने का उपाय भाग १ से ४	७.००
समयसार कलश/चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	पंचपरमेष्ठी विधान/गार में सागर	७.००
प्रवचनरत्नाकर भाग ३,४,८,९,१०	२०.००	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	६.००
समाधितंत्र प्रवचन/आत्मानुशासन/नयप्रज्ञापन	२०.००	जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से १३ तक	६.००
पं. टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	जिनवरस्य नयचक्रम्	६.००
समयसार अनुशीलन भाग २ से ४	२०.००	णमोकार महामंत्र	६.००
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-५	६.००
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	चौंसठ ऋद्धि विधान/कारणशुद्धपर्याय	६.००
पंचास्तिकाय संग्रह/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	१८.००	दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव	६.००
ज्ञानगोष्ठी/संस्कार/रामकहानी	१८.००	विचार के पत्र विकार के नाम	६.००
इन भावों का फल क्या होगा	१८.००	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५.००
इन्द्रध्वज विधान/गुणस्थान विवेचन	१८.००	परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/रत्नत्रय विधान	५.००
कार्तिकेयानुप्रेक्षा/प्रवचन रत्नाकर भाग-६	१६.००	युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार	५.००
कल्पद्रुम विधान/पुरुषार्थसिद्धयुपाय	१६.००	अलिग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका	५.००
बिखरे मोती/सत्य की खोज	१६.००	मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप	४.००
सुक्तिमुधा/आत्मा ही है शरण/ध्वलासार	१५.००	वीर हिमाचल तैं निकसी	४.००
धर्म के दशलक्षण/विदाई की बेला/सम्यग्दर्शन	१५.००	समयसार कलश पद्यानुवाद	४.००
सुखी जीवन	१४.००	समयसार : मनीषियों की दृष्टि में	४.००
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व/भक्तामर प्रवचन	१२.००	ब्रती की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान	३.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१२.००	मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
तीर्थंकर भ. महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१२.००	महावीर वन्दना (कलेण्डर)	३.००
श्रावकधर्मप्रकाश/चौबीस तीर्थंकर विधान	११.००	वस्तु स्वातंत्र्य/भारत-बाहुबली नाटक	३.००
पंचपरमेश्वर नन्दीश्वर विधान/विचित्र महोत्सव	११.००	शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति	३.००
वी.वि. पाठमाला भाग १, २, ३	१०.००	मैं स्वयं भगवान हूँ/रीति-नीति	३.००
वी.वि. प्रवचन भाग ४/चौबीस तीर्थंकर पूजा	१०.००		
तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान	१०.००		